योग साधन-माला, वर्ष ३ पु० १८—



शास्त्र-विज्ञानम्

लेखक और प्रकाशक—

श्रीस्वामी अभयानन्द सरस्वती,
योगमण्डल 'गुरुकुल' काशी।

मुद्रक—
शिवराम सिंह,
नेशनल प्रेस, बनारस कैण्ट।

सम्वत् १९८२ वि०

मूल्य ।।=) आने।

❀ विषय-सूची ❀



ओ३म्

अथ शास्त्रविज्ञानम् ।

वाचकवृन्द ! जिसप्रकार वेदों के पूर्णज्ञान होने के लिए हमारे प्राचीन ऋषियों ने चार उपवेद, छः अंग बनाये उसीप्रकार छः उपाङ्ग भी बनाये हैं वे शास्त्र वा दर्शन नाम से तर्कविद्या में प्रसिद्ध हैं। जिनमें वेदों को प्रमाण माना है, और वेदोक्त सिद्धान्तों पर तर्क से विचार किया है। उनके नाम यह हैं:— **१ वैशेषिक, २ न्याय, ३ सांख्य, ४ योग, ५ मीमांसा, और ६ वेदान्त**। तीन और भी शास्त्र नास्तिकों के हैं **१ चार्वाक, २ बौद्ध और ३ आर्हत**। अर्थात् ६ शास्त्र वैदिक और ३ अवैदिक हैं। इस ग्रन्थ में जो वैदिक ६ शास्त्र हैं उनके शास्त्रीय विचारों को विज्ञान की दृष्टि से प्रतिपादन किया जायगा। जनता ऋषियों के बतलाये लौकिक और पारलौकिक विद्याओं के रहस्य को जानकर परस्पर लाभ उठावेगी।

❋ षट्शास्त्रों का प्रयोजन ❋

प्राचीन समय में परोपकार दृष्टि से ६ ऋषियों ने वेदों के कठिन भावों को सरल रीति से जानने के लिये ६ शास्त्रों का निर्माण किया। किसी नीति का श्लोक है कि :—

विद्याविलासमनसोधृतशीलशिक्षाः,
सत्यव्रता रहित मानमलापहाराः।
संसारदुःख दलनेन सुभाषिताये,
धन्यानरा विहित कर्म्म परोपकाराः॥

वे नर धन्य हैं जो अपने उत्तम विचारों द्वारा संसार के अर्थात् संसारी लोगों के दुःख दलन में तत्पर रहते हैं।

सज्जनो ! जिस समय वेदों के पूर्णज्ञान निमित्त ऋषियों द्वारा ४ उपवेद अर्थात् १ आयुर्वेद (वैद्यकशास्त्र), २ धनुर्वेद, (युद्धशास्त्र) ३ गान्धर्ववेद (गानविद्या), ४ अर्थवेद (शिल्पशास्त्र) और ६ अङ्ग अर्थात् १ शिक्षा, २ कल्प, ३ व्याकरण, ४ निरुक्त, ५ ज्योतिष, ६ छन्दादि शास्त्रों का निर्माण हो चुके उसके पश्चात् ६ ऋषियों ने जिनके नाम ये हैं:—

१ कणाद, २ गौतम, ३ कपिल, ४ पतञ्जलि, ५ जैमिनि, ६ व्यास। योगबल से उक्त ऋषियों ने देखा कि ब्रह्मप्राप्ति के साधन निमित्त भावी सन्तानों के लिये केवल इतनाही पर्याप्त नहीं होगा तब उन सबोंमें से प्रथम कणाद ऋषिने अपना विचार प्रगट किये कि सबसे पहले 'प्रमेय' अर्थात् सारे पदार्थोंके पृथक् २ ज्ञान होजानेकी आवश्यकता है। ऋषिगौतम जीने कहा कि प्रमेय जाननेकेलिए फिर भी प्रमाणोंके जाननेकी आवश्यकता होगी। जिससे उस प्रमेय (वस्तु) का यथार्थ बोध हो। तीसरे ऋषि कपिल जी ने कहा कि यदि आप लोग प्रमेय और प्रमाण के बोधार्थ दो शास्त्रों का निर्माण करेंगे परन्तु अब दुःख और सुख जो दो गुण हैं उनके आधार की खोज करनी चाहिये, जिससे

तीनप्रकार के दुःखों की निवृत्ति हो ऐसे भी एक शास्त्र की आवश्यकता है। तदनन्तर ऋषि पतञ्जलि जी का कथन हुआ, उन्होंने बतलाया कि संसार में जिसप्रकार दुःख हैं सब चित्त की वृत्तियों के विक्षेपसे अर्थात् मन के विचारों को स्थिर न होने से उत्पन्न होते हैं अतः बिना चित्त के एकाग्र हुए सुख की प्राप्ति नहीं होगी। फिर ऋषि जैमिनि आए उन्होंने योग से चित्त के रोकने में जो बुरे कर्मों के संस्कार पैदा हुये अविद्या के संस्कार विघ्नकारक होंगे उन से कभी भी मनकी वृत्तियां एकाग्र न हो सकेंगी अतएव पहिले मन के मलरूपी दोष दूर करने के लिये शुभ नैमित्तिक कर्मों को करना चाहिये, उन्होंने व्रतदान इत्यादि बहुत से कर्म मलदोष दूर करने के लिए बतलाये। जब ऋषि जैमिनि जी महाराज ने इस भाँति कथन कर दिया तब ऋषि व्यास जी ने कहा कि प्रमेय का ज्ञान हो जावे, प्रमाण भी जान लिया जावे और तीन दुःखों की निवृत्ति के अर्थ जड़ चेतन (प्रकृति-पुरुष) को भी पृथक् २ समझ लिया जावे और योग करने का विचार भी ठीक होगया और जो योग में विघ्न पड़ेगा उनके रोकने के लिये कर्म का ज्ञान भी होगया परन्तु जिस चेतन के साथ योग करना है अभीतक उसका नितान्त जानना ही नहीं हुआ अतः ब्रह्मके जानने की इच्छा करनी चाहिए। "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' वे० सू० १ ॥

❋ शास्त्रों के नाम, विषय और उनके कर्त्ता ❋

नाम—	विषय—	शास्त्रकर्त्ता—
वैशेषिक	**प्रमेय (पदार्थों) का जानना**	**कणाद।**
न्याय	**प्रमाण का जानना**	**गोतम।**
सांख्य	**जड़चेतनकाजानना**	**कपिल।**

४ योग	आत्मा और परमात्मा का योग	पतञ्जलि।
५ मीमांसा	यज्ञादि में विघ्न निवारक कर्मों को जानना	जैमिनि।
६ वेदान्त	ब्रह्म का जानना	व्यास।

पहला-वैशेषिकदर्शन।

इस दर्शन के प्रवर्त्तक कणादमुनि हुएहैं, उनके नामपर इस दर्शनको कणाददर्शन कहते हैं। इस दर्शनका 'उद्देश्य' यह है कि 'प्रमेय' सारे पदार्थों को पृथक् २ कर के जान लेनेसेही मोक्ष मिलता है। (प्रश्न) इस दर्शन को वैशेषिक क्यों कहते हैं? (उत्तर)—इसमें विशेष पदार्थ (जोकि पहिले मालूम न था) का पता लगाकर निरूपण किया है इसलिये इसको वैशेषिक कहते हैं।

* पदार्थों के नाम *

पदार्थ कुल ६ हैं और वे धर्मविशेषसे उत्पन्न हुये हैं। यथा:-

१ द्रव्य, २ गुण, ३ कर्म, ४ सामान्य, ५ विशेष और ६ समवाय । इनमें से तीन (द्रव्य, गुण और कर्म) यह अर्थ कहलाते हैं । अर्थात् मुख्य पदार्थ यही तीनों हैं, इन्हीं से अर्थ क्रिया (प्रयोजन) सिद्ध होती है, यही धर्म अधर्म के निमित्त होते हैं । शेषतीन (सामान्य, विशेष और समवाय) उपपदार्थ हैं, इन तीनोंसे कोई अर्थक्रिया सिद्ध नहीं होती, किन्तु वह शब्द व्यवहार के ही उपयोगी हैं ।

वस्तुके नाम को द्रव्य कहते हैं उसके स्वरूप और स्वभाव को गुण, और उसमें जो क्रिया होती है उसे कर्म कहते हैं । जैसे आम्र एक फल (वस्तु) है इसका स्वरूप (रंग) पीला है, स्वभाव (रस) मीठा है यह पीलापन और मीठास इसमें गुण हैं । और वहवस्तु जिसके यह गुण हैं, वह द्रव्य है । इसका हिलना, चलना, आदि जो क्रिया है वह कर्म है ।

❁ १ द्रव्यवर्णन ❁

द्रव्यमें उन्होंने ९ पदार्थ लिये:—

१ पृथिवी, २ जल, ३, तेज, ४ वायु, ५ आकाश, ६ काल, ७ दिशा, ८ मन, ९ आत्मा ।

१ **'पृथिवी'**—रूप, रस—गंध और स्पर्शवाली है, उस में गंधमात्र गुण है अर्थात् गंध पृथिवी की पहिचान है, जहां गंध पाया जाता है वह सब पृथिवी है । गंध कहीं स्पष्ट है और अस्पष्ट । फूलों में स्पष्ट है, और मट्टीमें अस्पष्ट । पर फुल उसी मट्टीसे बनते हैं, इसलिये फूलोंका गंध भी उस मट्टी काही है । पृथिवी दो प्रकार की है । नित्य और अनित्य । परमाणु रूपनित्य है और कार्य रूप अनित्य । जैसे परमाणुओं के

संयोग के संयोगसे जो ढेला बना है वह अनित्य है, क्योंकि परमाणुओंके पृथक २ होजाने पर वह नाशको प्राप्त होजाता है और परमाणुओंका कभी नाश नहीं होता अतः कार्यरूप पृथिवी अनित्य है और परमाणुरूप नित्य है।

२ 'जल'—इसमें शीतलपन गुण है, रूपादिगुण अग्नि वायु के संयोग से होते हैं। 'जल भी दो प्रकार का है। नित्य और अनित्य। परमाणुरूप नित्य और कार्यरूप अनित्य है।

३ 'तेज'— रूप और स्पर्शवाले को तेज (अग्नि) कहते हैं। अग्नितत्व का गुण उष्ण है। स्पर्शगुण वायु के संयोगसे है। अर्थात् जहां उष्ण स्पर्श है, वहा अवश्य किसी न किसी रूप में तेज (अग्नि) है। तेज भी दो प्रकार का है नित्य और अनित्य। परमाणरूप तेज नित्य है और कार्यरूप अनित्य।

४ 'वायु'—वायु की पहिचान एक विलक्षण प्रकार का स्पर्श है, पृथ्वी, जल, तेज का स्पर्श रूपके साथ होता है। अर्थात् जिस पार्थिव, जलीय और तैजस वस्तु को हम छूस-सकते हैं, उसको देख भी सकते हैं, परवायु का स्पर्श रूप के साथ भी कभी नहीं होता, वायु को हम छूते हैं, देखते भी नहीं। वायु भी दो प्रकारका है, नित्य और अनित्य। परमाणुरूप वायु नित्य है और कार्यरूप अनित्य।

❀ पृथिवी, जल, तेज के तीनप्रकार के कार्य ❀

पृथिवी, जल, तेज और वायु से तीन प्रकार की वस्तुएं बनी हैं— शरीर, इन्द्रिय और विषय। मनुष्य, पशु और पक्षियों के शरीर पृथिवी के हैं, घ्राणेन्द्रिय (सूंघने की इन्द्रिय) पृथिवी का है, शरीर और इन्द्रिय के सिवाय जितनी (मट्टी

पत्थर आदिरूप) पृथिवी है, वह सब विषय है। इसीप्रकार जलमण्डलस्थ जीवों के शरीर जलीय हैं, इन्द्रियों में रसना (रस अनुभव करनेवाली इन्द्रिय) जलीय है। नदी, समुद्र वर्फ, ओलेआदि जलीय विषय हैं। तेजोमण्डलस्थ जीवों का शरीर तैजस है, इन्द्रियों में नेत्र तैजस है, अग्नि, सूर्य और जठराग्नि आदि तैजस विषय है, वायुमण्डलस्थ जीवों का स्वरूप वायवीय है, इन्द्रियों में त्वचा वायवीय है, और बाहर जो वृक्षादि को कम्पानेवाला वायु है और अन्दर जो प्राणरूप वायु है, वह विषय है।

❁ शरीरों के भेद ❁

शरीर दो प्रकार के हैं—योनिज और अयोनिज। जलीय, तैजस और वायवीय शरीर सारे अयोनिज हैं। पार्थिव शरीर योनिज और अयोनिज दोनों प्रकार के हैं। योनिज भी दो प्रकार के हैं। जरायुज (जेरज) जर से उत्पन्न होने वाले, जैसे मनुष्य पशु आदि के, और अण्डज अण्डे से उत्पन्न होने वाले पक्षि और सर्पादियों के। आदि ऋषियों के शरीर अयोनिज हैं। और क्षुद्रजन्तुओं के शरीर भी अयोनिज हैं।

५ 'आकाश'— आकाश की पहिचान शब्द है, जहां शब्द है, वहां आकाश है, शब्द सर्वत्र है, अतएव आकाश विभु (व्यापक) है। विभु द्रव्य नित्य ही होता है, क्योंकि वह अवयवोंसे बना हुआ नहीं होता, सोविभु होने से आकाश नित्य है और एक है। आकाश का शरीर कोई नहीं, पर इन्द्रिय श्रोत्र है, कर्णछिद्र के अन्दर का आकाश श्रोत्र है।

❁ पञ्चभूत ❁

पृथवी, जल तेज, वायु और आकाश यह पांचों द्रव्य पञ्चभूत कहलाते हैं।

* भूतों के प्रसिद्ध पांच गुण *

पांचों भूतों के यह पांच गुण प्रसिद्ध हैं—गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द। इनमें से पृथिवी में गंध, रस, रूप और स्पर्श चार हैं, जलमें रस, रूप और स्पर्श तीन हैं। तेजमें रूप और स्पर्श दो हैं, और वायु में एक स्पर्श ही है। और शब्द केवल आकाश का गुण है।

* पञ्चइन्द्रिय और पञ्चविषय *

घ्राण, रसना, नेत्र, त्वचा और श्रोत्र यह पांच इन्द्रिय हैं क्रमसे उनके गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द यह पांच विषय हैं। घ्राण नासा के अग्रवर्ति है और पार्थिव होने से पृथिवी के गुण का ही ग्राहकहैं, नेत्र काली पुतली के अग्रवर्ति है और तैजस होनेसे रूपका ही ग्राहक है, त्वचा सर्व शरीरगत है और वायवीय होने से स्पर्श का ही ग्राहक है श्रोत्र कर्ण-विवर वर्ति है और आकाशरूप होने से शब्दका ही ग्राहक है।

६ 'काल'— यह उससे छोटा है और वह इससे बड़ा है, यह जल्दी होगया है, और वह देर के पीछे हुआ है, इत्यादि जो विलक्षण प्रतीतियें होती हैं, इनका निमित्त सिवाय काल के और कोई बन न सकने से जो इसमें निमित्त है, वह काल है। सारे कार्यों की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय (विनाश) में काल निमित्त होता है। काल अनादि अनन्त है, एक है, विभु है, पर व्यवहार के लिये पल, घड़ी, दिन, रात, महीना, वर्ष और युग आदि उसमें टुकड़े कल्पना कर लिये जाते हैं। अर्थात् बाल, युवा, वृद्ध, सूर्योदय, अस्तका जिसमें एक साथ शीघ्र ज्ञान होवे वह काल कहाता है।

७ 'दिशा'— इधर उधर आना जाना आदि व्यवहार

जिसमें हो वह दिशा है। यह पूर्व है वह पश्चिम वह उत्तर वह दक्षिण आदि व्यवहार बिना दिशा के नहीं बन सकता। अतः दिशा भी विभु नित्य एक है। दिशा तो एकही है, पर व्यवहार के लिये पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, ईशान, ऊपर, नीचे १० भेद हैं।

८ 'आत्मा'— आत्माकी पहचान चैतन्य (ज्ञान) है। क्योंकि ज्ञानशरीर का धर्म नहीं हो सकता, क्योंकि शरीर के कारण जो पृथिवी आदि भूत हैं, उनमें ज्ञान नहीं।

* आत्मा के भेद *

आत्मा दो प्रकार का है—परमात्मा और जीवात्मा जो अविद्यादि क्लेश, शुभाशुभकर्म, कर्मों के फल तथा उनकी बासनाओं से पृथक्, सांसारिक जीवों से भिन्न पुरुष विशेष है वह 'ईश्वर' परमात्मा है। वह प्रभु सर्वज्ञ, सर्व सृष्टिकर्त्ता, अनादि, अनन्त, सर्वव्यापक, पवित्रादिगुणयुक्त एक (अद्वितीय) है। (प्राण) बाहर से वायु को भीतर लेना अर्थात् श्वास लेना। (अपान) भीतर से वायु निकालना अर्थात् प्रश्वास छोड़ना (निमेष) आंख को नीचे ढांकना, आंख मीचना वा पलक मारना (उन्मेष) आंख को ऊपर उठाना वा पलक खोलना (जीवन) प्राण का धारण करना अर्थात् जीवित रहना जीना (मनः) मनन बिचार अर्थात् ज्ञान (गति) यथेष्ठ गमन करना अर्थात् चलना, फिरना, आना, जाना (इन्द्रिय) इन्द्रियों के विषय में चलाना, उनसे विषयों का ग्रहण करना (अन्तर्विकार) क्षुधा, तृषा, ज्वर, पीड़ा आदि विकारों का होना और पूर्वोक्त सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न ये सब आत्मा के लिंग अर्थात् कर्म और गुण हैं। परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि जब आत्मा देह (शरीर) में

होता है तभी तक ये गुण प्रकाशित होते हैं और जब शरीर छोड़ चला जाता है तब ये गुण शरीर में नहीं रहते। जिसके होनेसे हों और न होने से नहीं वे गुण उसी के होते हैं, जैसे दीप और सूर्यादि के न होने से प्रकाशादि का न होना और होने से होता है वैसे ही जीव विज्ञान गुणद्वारा होता है। जीवात्मा अनेक और प्रति शरीरों से भिन्न२ अल्पज्ञ है।

९ **'मन'**— जैसे बाहर रूपादि ज्ञानके साधन नेत्रादि इन्द्रिय हैं, वैसे अन्दर सुख दुःखादि के ज्ञानका साधन जो इन्द्रिय है, वह मन है। वह हरएक आत्मा के साथ एक २ नियत है। मन अणु (सूक्ष्म) है। एक समयमें अनेक ज्ञान का न होना मनका चिन्ह है। जिसप्रकार वायु द्रव्य और नित्य है तदनुसार मन भी द्रव्य और नित्य तथा सूक्ष्म है।

❀ गुणों का वर्णन ❀

पदार्थों में गुण दूसरा पदार्थ है—रूप, रस, गंध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म और अधर्म तथा संस्कार ये २४ गुण हैं। जो द्रव्य के आश्रित अन्य गुणों से भिन्न संयोग और विभाग में अपेक्षारहित अकारण हो वह गुण कहलाता है। अब रूपादि २४ गुणों को निरूपणादि का वर्णन पृथक् २ किया जाता है।

१ **'रूप'**—नेत्रमात्रसे जो ग्रहण किया जाय उसको रूप कहते हैं। वह रूप शुक्ल, नीला, पीला, लाल, हरा, कपिश काला पीला) और चित्र इन भेदोंसे सात प्रकारका है। जलमें उज्ज्वल और अग्निमें चमकदार व उज्ज्वल है।

२ **'रस'**—रसनासे जो मालूम हो वह गुण रस है। और

वह मीठा, खट्टा, खारा, कडुआ, कषैला, और तीता इन भेदोंसे छः प्रकार का है। जोकि पृथिवी में छः प्रकार का और जल में केवल मीठा है।

३ 'गन्ध'—नासिकासे जो जाना जाय वह गन्ध गुण है। गन्धभी सुगंध और दुर्गंध दो प्रकार का है जो कि केवल पृथिवी में रहता है।

४ 'स्पर्श'—जो त्वचामात्र से मालूम हो वह स्पर्श गुण है। वह तीन प्रकार का है शीत और उष्ण तथा समशीतोष्ण। वह स्पर्शगुण जलमें शीतल, अग्नि में उष्ण और पृथिवीमें समशीतोष्ण है (न शीत न गर्म)।

* कारण के गुणों से कार्य्य के गुणोंकी उत्पत्ति *

कारणके गुणोंसे कार्यमें गुण उत्पन्न होते हैं, जैसे सफेद तन्तुओंसे सफेद वस्त्र और कालेसे काला बनता है एवं रस, गन्ध, स्पर्श भी अपने कारणसे कार्य में आते हैं तथा गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेहादि भी।

* पृथिवी में पाकजरूपादि की उत्पत्ति *

पृथिवी में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श पाकज भी होते हैं अर्थात् अग्नि आदि तेजके संयोग से भी उत्पन्न होते हैं, जैसे पके हुये फलोंसे रूप, रस, गंध व स्पर्श बदल जाते हैं क्योंकि वह पाकसे पैदा हुए हैं एवं पके हुये हैं एवं पके हुये घड़ेके भी रूपादि बदल जाते हैं।

५ 'संख्या'—संख्या नवद्रव्योंमें स्थिर रहती है एकसे लेकर पदार्थ (अन्तिम संख्या, पिछली गिनती, एकसंख तक ब्रह्माकी आयु का दूसरा आधा) तक होती है। एकत्व संख्या

नित्य द्रव्योंमें नित्य और अनित्य द्रव्योंमें अनित्य है और आत्मादि नित्य पदार्थोंमें एकत्व नित्य घटपटादिमें रहनेवाला एकत्व अनित्य है। और द्वित्वादि संख्या सर्वत्र अनित्य है जैसे एक ब्रह्म एक जीव एकघट एक वृक्षादिसंख्या नित्य और अनेक वृक्षादि घट अनित्य हैं क्योंकि नाश होनेपर एकही संख्या रह जाती है।। द्वित्वत्रित्वादि नहीं। संख्या कहांतक होसकती हैं इसकी कोई अवधि नहीं है, पर व्यवहार के लिए परार्ध तक मानली गई है। संख्या, नित्य, अनित्य, मूर्त्त, अमूर्त्त सब द्रव्यों में रहती है।

६ 'परिमाण'—नापने के व्यवहार का कारण परिमाण है। वह परिमाण चार प्रकारका है अणु, महत्, दीर्घ और ह्रस्व। और नित्य, अनित्य, मूर्त्त, अमूर्त्त सब पदार्थों में रहता है। एक वस्तुको बड़े वस्तु की अपेक्षासे अणु और ह्रस्व तथा छोटे वस्तुकी अपेक्षासे बड़ा और दीर्घ कहा जाता है। जैसे गौ हाथी की अपेक्षासे छोटी और बकरी की अपेक्षासे बड़ी कही जाती है। आकाश और आत्मा सर्वत्रव्यापक होनेसे महत् परिमाण युक्त है। नित्यपदार्थों में नित्य और अनित्य पदार्थों में अनित्य है।

७ 'पृथक्त्व'—यह पदार्थ इससे पृथक् है इसव्यवहार का मुख्यहेतु पृथक्त्व है। नौहीद्रव्योंमें रहता है,जैसे एक दूसरे से पृथक् है। नित्यद्रव्यमें एकत्व और एक पृथक्त्व भी नित्य और अनित्य द्रव्यों में अनित्य होता है।

८ 'संयोग'—संयुक्त व्यवहार का कारण संयोग कहाता है। संयोग तीन प्रकार का होता है। अन्यतरकर्मज, उभयकर्मज और संयोगज। अन्यके कर्मसे जो कार्य उत्पन्न हो वह अन्यतरकर्मज है जैसे बाज पक्षी और पर्वतका संयोग। दोनों

के कर्मसे जो कार्य होवे वह उभयकर्मज है जैसे दो बैलोंका मेल (टक्कर)। संयोगसे जो उत्पन्न हो वह संयोगज कहाता है। जैसे हाथ और पुस्तकके संयोगसे शरीर और पुस्तक का संयोग है। संयोगभी सब द्रव्योंमें स्थितअनित्य है जोकि प्रत्येक के साथ नयनया उत्पन्न होता है।

९ 'विभाग' संयोग का नाशक गुण विभाग कहाता है। विभागभी तीन प्रकारका होता है। अन्यतरकर्मज, उभयकर्मज और विभाजक। जैसे बाजके उड़ जानेसे पर्वत का विभाग अन्यतर कर्मज है, जैसे बैलोंके हटनेसे बैलोंका विभाग उभय कर्मज, और जैसे हाथ और पुस्तक के विभागसे शरीर और पुस्तकका विभाग विभाजक है।

१०—११ 'परत्वाऽपरत्व'—यह पर है वह अपर है ऐसा व्यवहार जिसमें हो उसको परत्वाऽपरत्व कहते हैं। परत्वाऽपरत्व दो प्रकार का है दैशिक और कालिक। दैशिक वह है जो देशसे दूर या नजदीक हो जैसे काशी से पश्चिम प्रयाग ग। फाल्गुनसे परे चैत्र है। वह उससे बड़ा और उससे छोटा है। दैशिक और कालिक सब परत्व और अपरत्व अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न होता है और बुद्धि के नाशसे नाश होता है।

१२ 'गुरुत्व'—किसी पदार्थके गिरने का निमित्त कारण गुरुत्व कहलाता है। पृथिवी और जलमें रहता है। वायुमें गुरुत्व पन पृथिवी व जलीय रेणुओंके संयोगसे होता है। गुरुत्व नित्यों में नित्य और अनित्योंमें अनित्य है।

१३ 'द्रवत्व'—बहने का असमवायिकारण द्रवत्व है। द्रवत्व दो प्रकार का है, स्वाभाविक और नैमित्तिक। जलमें स्वभाविक और घृतादि पार्थिव पदार्थोंमें नैमित्तिक है, अग्निके

संयोगसे उत्पन्न होता है। और नित्योंमें नित्य और अनित्योंमें अनित्य है।

१८ **'स्नेह'**—पिसी हुई वस्तुको एकत्रित करना(पिण्ड) बना देना स्नेह गुण है। केवल जल में रहता है। और नित्यों में नित्य व अनित्योंमें अनित्य है।

१५ **'शब्द'**—जो कानसे सुनाई दे बुद्धिसे ग्रहण किया जाय प्रयोगसे प्रकाशित और आकाश जिसका देश है वह शब्द कहाता है। शब्द दो प्रकार का है। ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक। ध्वनिस्वरूप बीणादि में और वर्णस्वरूप मनुष्यों की भाषाओं में होता है। दोनोंकी प्रकृतियोंके अभाव तथा याथातथ्य (ठीक २) स्मरण करनेसे शब्द नित्य है यदि अनित्य होता तो गुरु के उच्चारित शब्दको शिष्य कथन कर सकता क्योंकि शब्द तो उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता किन्तु ऐसा न होनेसे तथा एकके कहे हुए को सुन कर दूसरा ठीक २ स्मरणकरके तदनुसार कहता है अतः शब्द नित्य हैं।

❁ शब्दकी उत्पत्ति ❁

संयोग और विभाग तथा शब्द सेभी शब्द उत्पन्न होता है। क्योंकि दूरस्थ शब्दोंके सुनने केलिये कान शब्दोत्पत्तिस्थान तक जाते नहीं और शब्दगुण, क्रिया रहित होनेसे आसकता नहीं पर सुनाई पड़ता है अतः सिद्ध है कि जैसे पानी में ढेला फेकने से एक लहर अन्यलहरों को उत्पन्न करती जाती एवं शब्दसे भी शब्द उत्पन्न होता हुआ तारवत् दूरतक चला जाता है। जैसे लहर ज्यों २ दूर जाकर न्यून होती जाती है तदनुसार शब्द भी ज्यों २ दूर जाता है त्यों २ कम होता जाता है।

१६ **'बुद्धि'**—ज्ञान का नाम है। यह केवल आत्मा का

गुण है। बुद्धि दो प्रकार की है अनुभव और स्मृति। नया ज्ञान अनुभव है, और पिछले जाने हुएका स्मरण स्मृति है। अनुभव दो प्रकारका है—यथार्थ (सच्च) और अयथार्थ (मिथ्या)। यथार्थानुभव को '**प्रमा**' वा विद्या कहते हैं और अयथार्थको '**अप्रमा**, वा 'अविद्या,। यथार्थानुभवके तीन भेद हैं-'**प्रत्यक्ष लैङ्गिक और आर्ष**। इन्द्रियोंसे जो अनुभव होता है, वह प्रत्यक्ष है। मनभी इन्द्रिय है. इसलिये मनसे सुख दुःखादि का अनुभव भी प्रत्यक्ष है। किसी लिङ्ग (चिन्ह, निशान) कोदेख कर जो लिंगी (उस निशानवाले का ज्ञान होता है, वह लैङ्गिक है, इसीको अनुमिति वा अनुमान कहते हैं, जैसे रचनाको देख कर ईश्वर का अनुभव होता है, ऋषियोंको धर्म विशेषके बलसे धर्मादि विषयोंमें यथार्थ बतलानेवाला जो ज्ञानउत्पन्न हुआ है, वह आर्ष है। यह ज्ञान वेदमें है। यही तीनों प्रमाण हैं, प्रत्यक्ष, अनुमान, और वेद। और जितने प्रमाण हैं, वह प्रत्यक्ष, वा अनु मानकेही अन्तर्गत हो जाते हैं। लौकिक शब्द भी अनुमान के अन्तर्गत होकर प्रमाण होता है, क्योंकि यदि उसका वक्ता सर्वथानिर्दोष है, न उसको भ्रांति हुई है, नधोखा देना चाहता है, तब प्रमाण है, अन्यथा अप्रमाण, इसलिये स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है।

'**अयथार्थानुभव**' किसी दोषसे होता है चाहे वह दोष इन्द्रियोंमें हो, वा संस्कार में। उसके दोभेद हैं—संशय और विपर्यय। एक निश्चय न होना संशय है। संशय प्रत्यक्ष में भी और अप्रत्यक्ष में भी होता है, प्रत्यक्ष में जैसे, दूरसे खंभे को देखकर, क्या यह खंभा होगा वा मनुष्य ? यह संशय होता है। अप्रत्यक्ष में, जैसे जंगलमें केवल सींगको देखकर क्या यह गौ-होगी वा गवय ? यह संशय होता है। संशय होता तब है, जब

उनका साँझा धर्म तो दीखे, और विशेष धर्म न दीखे, जैसे ऊँचाई जो वृक्ष और मनुष्य का साँझा धर्म है, वह दीखती है, और खोड आदि जो वृक्षका विशेष धर्म है, वह नहीं दीखता है। विशेष धर्म का ज्ञान होनेसे संशय मिट जाता है।

* विपर्यय *

मिथ्याज्ञान को विपर्यय कहते हैं अर्थात् पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान न होकर अन्य का ज्ञान होना। यह ज्ञान भी प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष दोनों में होता है, जैसे रस्सी को सर्प और सीप को चाँदी का ज्ञान तथा सींग देखकर गौ का अनुमान।

'तर्क'—अविज्ञाततत्त्वार्थ में कारणोत्पत्ति से तत्त्व ज्ञानार्थ जो विचार किया जाय उसको तर्क कहते हैं। प्रत्येक पदार्थ को देखते तर्क उत्पन्न होता है कि यह क्या है—यही शंशय है।

'अविद्या का हेतु'—नेत्र, श्रोत्र, कर्ण, जिह्वादि इत्यादि इन्द्रियों में दोष उत्पन्न होने से और संस्कारों के दोष से अविद्या (विरुद्धज्ञान) होता है। दोष युक्त ज्ञान को अविद्या कहते हैं। अर्थात् अनित्य को नित्य, अपवित्र को पवित्र, दुःख को सुख, अनात्मा को आत्मा मानना अविद्या है।

'विद्या'—निर्दोष याथातथ्य ज्ञान को विद्या कहतेहैं।

'स्वप्न'—आत्मा और मन के संयोग विशेष और संस्कारों के वश से साक्षात्कार जो ज्ञान होताहै वह स्वप्न है। स्वप्न तीन कारणों से होता है, संस्कार के वेग से और धातु के दोष से तथा अदृश्य से।

'संस्कार का वेग'—कामी, क्रोधी, लोभी आदि पुरुष विषयभोग, क्रोध तृष्णादि का वेग से चिन्तन करता हुआ सो जाता है तो वही स्वप्न में देखता है। धातु के दोष से भी स्वप्न होता है, जैसे वात के प्रकोप से आकाश में उड़ना, पित्त के दोष से अग्नि में प्रवेश करना सुवर्ण पर्वत सूर्यादि का देखना और कफ के विकार से नदी समुद्रादि में तैरना। आदि पुरुष देखता है।

'अदृष्ट'—जो संस्कार तथा धातु दोषादि के अतिरिक्त भावीशुभाशुभसूचक स्वप्न होता है वह अदृष्ट है।

'स्वप्नान्तिक'—स्वप्नावस्था में जाने हुये अन्य स्वप्न का ज्ञान होना स्वप्नान्तिक कहाता है, जैसे मैं ने कभी इसको स्वप्न में देखा था।

'स्मृति'—पूर्वानुभव के संस्कार से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह स्मृति है। नवीनों ने स्वप्न को भी स्मृति ही माना है, क्योंकि वह संस्कार मात्र से जन्य होता है, किन्तु भावना (स्मृति जनक संस्कार) के प्रकर्ष से स्मृति का विषय प्रत्यक्षाकार सा प्रतीत होता है। इतना ही स्मृत्यन्तर से भेद है।

१७ 'सुख'—आत्मानुकूल कार्य सुख है वह सुख, ज्ञान, शान्ति, सन्तोष और धर्मादि से प्राप्त होता है। सुख के होने से मुख और नेत्र खिल जाते हैं। सुख ही मनुष्य का परम उद्देश्य है, इसी की प्राप्ति के लिए सब कुछ किया जाता है।

१८ 'दुःख'—इष्ट के वियोग वा अनिष्ट की प्राप्ति से दुःख उत्पन्न होता है। सदाप्रतिकूल स्वभाव होता है। दुःख के होने से चेहरा मुरझा जाता है, दीनता आ जाती है। अतीत (भूतकाल) विषयों में स्मृति जन्य दुःख होता है और अना-

गतों में संकल्प जन्य। अर्थात् बन्धनपरतंत्रता का नाम दुःख है।

१९ 'इच्छा'—अप्राप्त वस्तुओं के प्राप्ति की कामना करना इच्छा है। इच्छा दो प्रकार की है, फल की इच्छा, और उपाय की इच्छा। फल सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति है। और सब उसके साक्षात् वा परम्परा से उपाय है।

२० 'द्वेष'—प्रज्वलन स्वरूप द्वेष है अर्थात् जिसके उत्पन्न होने पर मनुष्य अपने आप को प्रज्वलित सा समझता है, वह द्वेष है। प्रयत्न स्मृति धर्म और अधर्म का हेतु है। द्वेष से मारने वा जीतने का प्रयत्न होता है, जिसे द्वेष हो, उसकी बार २ स्मृति होती है दुष्टों से द्वेष में धर्म और श्रेष्टों से द्वेष में अधर्म होता है। क्रोध, द्रोह, शोक, अक्षमा, अमर्ष यह द्वेष के भेद हैं।

२१ 'प्रयत्न'—किसी वस्तु के प्राप्त के लिए उद्योग किया जाय उसको प्रयत्न कहते हैं। वह प्रयत्न दो प्रकार का है। जीवन पूर्वक और इच्छा द्वेष पूर्वक। जो निद्रावस्था में प्राणापानादि को चलाता तथा जाग्रतावस्था में मन का इन्द्रियों के साथ संयोग कराता है, वह जीवन पूर्वक प्रयत्न है। और जो सुख की प्राप्ति के लिये प्रयत्न इच्छापूर्वक और दुःख के परित्याग में द्वेषपूर्वक होता है।

२२ 'धर्म'—जिससे लोक में अभ्युदय और परलोक में निस्संदेह मोक्ष प्राप्त हो वह धर्म है। वह धर्म वेद विहित कर्मों के करने से प्राप्त होता है। धृति क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, सत्य और अक्रोध ये धर्म के १० लक्षण मनु ने बताये हैं।

२३ 'अधर्म'—निषिद्ध कर्मों का करना अधर्म है। जैसे हिंसा, चोरी, व्यभिचार और द्रोहादि। कर्त्ता के अहित और दुःख का हेतु होता है। धर्म और अधर्म को अदृष्ट कहते हैं।

२४ 'संस्कार'—तीन प्रकार का है वेग, भावना और स्थितिस्थापक। पृथिवी जल, अग्नि, वायु और मन इन पाँच द्रव्यों में कर्म से उत्पन्न होता है वह वेग है। और यह अगले कर्म का हेतु होता है। भावना संस्कार अनुभव से उत्पन्न होता है, स्मृति और पहचान का हेतु है। विद्या शिल्प व्यायामादि में बार २ अभ्यास से इस संस्कार का अतिशय होता है, उसके बल से उस २ विषय में निपुणता आती है। अन्यप्रकार से किये हुए पदार्थ का फिर उसी अवस्था में लानेवाला संस्कार स्थिथिस्थापक कहाता है, जैसे टेढ़ी की हुई शाखा छोड़ने पर पुनः सीधी हो जाती है। यह संस्कार स्पर्शवाले द्रव्यों में रहता है, जिनकी बनावट घनी है।

❁ विशेष और सामान्यगुण ❁

२४ गुण जो रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार हैं इन चौबीस गुणों में से रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह सांसिद्धिक द्रवत्वबुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना और शब्द यह विशेष गुण हैं, क्योंकि यह एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य से निखेरते हैं। और संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, नैमित्तिक द्रवत्व और वेग यह सामान्य गुण हैं, क्योंकि यह एक द्रव्य से निखेरते नहीं है।

❀ ३ कर्म्मवर्णनम् ❀

जो एक द्रव्यवाला गुणों में भिन्न संयोग और विभागों में अनपेक्ष कारण हो वह कर्म है। अर्थात् चलनारूप कर्म है। वह पाँच प्रकार का है १ उत्क्षेपण = ऊपर फेंकना, २ अवक्षेपण = नीचे फेंकना, ३ आकुञ्चन = सकोड़ना, ४ प्रसारण = फैलाना, और ५ गमन = तिरछा चलना अथवा सब कर्म गमन कहलाते हैं।

यह मुख्य पदार्थ अर्थात् द्रव्य, गुण, कर्म का विचार समाप्त हुआ, अब गौण पदार्थ सामान्य, विशेष और समवाय का विचार करते हैं।

❀ ४ सामान्य वर्णन ❀

किसी अर्थ की जो जाति (किस्म) है, वह सामान्य है, जैसे वृक्ष की वृक्षत्वजाति और मनुष्य की मनुष्यत्वजाति। जाति बहुतों में एक होती है, जैसे सारे वृक्षों में वृक्षत्वजाति एक है। जो एकही व्यक्ति हो, उसमें जाति नहीं रहती, अतएव आकाश, काल और दिशामें जाति नहीं, क्योंकि वह एक २ व्यक्ति हैं। सामान्य (जाति) के दो भेद हैं-पर और अपर। एक व्यापक जाति, जिसकी अवान्तर जातियां और भी हों, वह परसामान्य कहलाती है, दूसरी अपर। जैसे वृक्षत्व पर है और आम्रत्व अपर। अपर सामान्य को सामान्य विशेष कहते हैं, अर्थात् वह सामान्य भी है और विशेष भी है। जैसे आम्रत्व सारे आम्रों में सामान्य है, पर दूसरे वृक्षों विशेष (अलग) करती है, इसलिये विशेष भी है। यह सामान्य आम्रों को विशेष (पर, अपर) सापेक्ष हैं। आम्रत्वादि की अपेक्षा से वृक्षत्व पर (सामान्य) है, और वृक्षत्व की अपेक्षा से आम्रत्व अपर (विशेष) है। पर वृक्षत्व भी पृथिवीत्व की अपेक्षा अपर है, और आम्रत्वभी अपनी अवान्तर

जातियों की अपेक्षा से पर है। जिसकी आगे अवान्तरजाति कोई नहीं, वह केवल अपरही होता है, जैसे घटत्वादि। और जिस की व्यापकजाति कोई नहीं, वह केवल पर (केवल सामान्य) ही होता है। ऐसी जाति केवल सत्ता है क्योंकि वह सारे द्रव्यों सारे गुणों और सारे कर्मों में होती है। सत्ता वह है, जिससे सत्‌सत् प्रतीति होती है, अर्थात् द्रव्यसत् है, गुणसत् है, कर्मसत् है, और (सारी द्रव्यत्वादि) जातियां सामान्य विशेष हैं।

जातिमें विशेष शब्द गौण है।

परइन द्रव्यत्वादि जातियों में से हरएक जाति अनेक व्यक्तियों में रहता है, इसलिये प्रधानतया वह सामान्यही, किन्तु अपने आश्रय (द्रव्यादि) को दूसरेपदार्थों से अलग भी करती हैं, गौणतय विशेष शब्दों से कही जाती है, पर जो विशेष पदार्थ है, वह इनसे अलग ही है।

५ विशेषपदार्थ वर्णन।

जैसे घोड़े से गौमें विलक्षण प्रतीति जातिनिमित्तक होती है, और एक गौसे दूसरी गौ में विलक्षण प्रतीति का निमित्त रूपादि वा अवयवों की बनावट आदिका भेद है। अब इसी प्रकार योगियों को एकही जाति गुण कर्म वाले परमाणुओं में जो एक दूसरे से विलक्षण २ प्रतीति होती है, उसका भी कोई निमित्त होना चाहिए, परमाणुओं में और कोई भेद (बनावट आदिका भेद) असम्भव होने से, जो वहां भेदक धर्म है, वही विशेषपदार्थ है, सो यह विशेष सारे नित्य द्रव्यों रहता है, क्योंकि अनित्य द्रव्यों में और गुणकर्मादि में तो आश्रय के भेद से कहा जा सकता है, पर नित्यद्रव्यों में नहीं। सो हरएक नित्यद्रव्य में एक २ विशेष होता है, जिससे एक को दूसरे से

विलक्षण प्रतीत होते हैं। और देश काल के भेद में भी, यह वही परमाणु है, यह पहचान जोयोगियों को होती है इसका निमित्त भी विशेष पदार्थ है। अर्थात् पहचान और विलक्षण प्रतीति किसी निमित्त से होती है, (जैसे गौ में गोत्वजाति से शुक्ल में शुक्लत्व गुणसे) और वह निमित्त परमाणुओं में कोई और न होने से उनमें भी अवश्य कोई अलग ऐसा पदार्थ है, जो पहचान और विलक्षण प्रतीति का निमित्त है, वही विशेष पदार्थ है जो इसका पता इसी दर्शन ने लगाया है, और इसलिये इसको वैशेषिक कहते हैं।

❀ ६ सममायपदार्थवर्णन ❀

सम्बन्ध सदा दो में होता है, जैसे कूण्डे और दही का सम्बन्ध है। इनमें से दही कुण्डे से और कूण्डा दहीसे अलग भी रहता है। ऐसे सम्बन्ध को संयोग कहते हैं। परजो ऐसा घना सम्बन्ध है, कि जहां सम्बन्धी अलग २ न थे, नहो सकते हैं, जैसे गुणगुणी का सम्बन्ध है' ऐसे सम्बन्ध को समवाय कहते हैं। अर्थात् गुणों में गुण समवाय सम्बन्ध से रहता है, इसीप्रकार अवयवों में अवयवी, क्रियावाले क्रिया, व्यक्ति में जाति और नित्य द्रव्योंमें विशेष समवाय सम्बन्ध से रहता है।

❀ सातवांपदार्थअभाव ❀

पूर्वोक्तछः पदार्थ है, पर नव्यों ने अभाव भी अलग पदार्थ निरूपपण किया है। अभाव चार प्रकार का है। १ प्रागभाव २ प्रध्वंसोभाव, ३ अत्यन्ताभाव और ४ अन्योऽन्याभाव। किसी वस्तु की उत्पति से पहले जो उसका अभाव है, वह प्रागभाव है, नाश के पीछे जो अभाव है, वह प्रध्वंसाभाव है, यहां घट नहीं है, यहां पट नहीं है, इत्यादि रूप से जो इस

स्थान में घट आदि के संसर्ग का प्रतिषध है, यह अत्यन्ताभाव है, और घड़ा वस्त्र नहीं है, इसप्रकार का अभाव 'अन्योऽन्याऽभाव है।

उपसंहार।

इन उपरोक्त पदार्थोंके तत्त्वज्ञानसे मोक्ष होता है, और तत्त्वज्ञान धर्मविशेष से उत्पन्न होता है, जैसा कि कहा है "धर्मविशेषप्रसूताद्द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यांतत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्" १।१।४ धर्मविशेष से उत्पन्न हुआ जो द्रव्य, गुण, कर्म, विशेष और समवाय रूप पदार्थों का मांझे और अलग २ धर्मों द्वारा तत्त्वज्ञान, उससे मोक्ष होता है।

द्र०—वैशेषिक दर्शन प्रथम समझ लेने से न्यायदर्शन की बातें समझ में ठीक २ आने लगता है। जिसप्रकार सांख्य से योग को और मीमांसा से वेदान्त की बातें समझ में आती हैं। समझने का क्रम इसीप्रकार जानना चाहिए।

दूसरा—न्यायशास्त्र।

इस दर्शन का प्रवर्त्तक गौतममुनि हुए हैं, उनके नाम पर इसको गौतमदर्शन कहते हैं, और इसमें सपरिकर (सारी जरूरतोंसमेत) न्याय (अनुमान) कानिरूपण किया है इसलिये

इसको न्याय दर्शन कहते हैं। विद्याओं में इस विद्या का नाम आन्वीक्षिकी है।

उद्देश्य—किस तरह हम किसी विषय में यथार्थज्ञान पर पहुंच सकते हैं और अपने वा दूसरे के यथार्थज्ञान की त्रुटि मालूम कर सकते हैं। इस विद्या का सिखलाना इस दर्शन का मुख्य उद्देश्य है। अत यह आन्वीक्षिकीविद्या सबको उपयोगी है।

"प्रदीपःसर्वविद्यानामुपायःसर्वकर्मणाम्
आश्रयःसर्वधर्माणांविद्योद्देशेप्रकीर्तिताः"

विद्या के उद्देश्यमें यह विद्या सारी विद्याओं का प्रदीप, सारे कर्मों का उपाय, और सारे कर्मों का आश्रय बतलाई गई है। इसके साथही मोक्षोपयोगी तत्व ज्ञान भी इसमें सिखलाया है। इसप्रमाणवाद में १६ पदार्थों का ज्ञान आवश्यकीय है:—

[१] **'प्रमाण'** यथार्थ ज्ञान का साधन प्रमाण है। जानने वाला प्रमाता, ज्ञान प्रमिति और जिस वस्तु को जानता है वह प्रमेय कहलाती है। प्रमाण चार प्रकार का है:—

(१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान (३) उपमान (४) शब्द।

इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह **'प्रत्यक्ष'** है जैसे नेत्रसे सूर्य का ज्ञान। पर प्रत्यक्ष वही है जो बदलनेवाला नहो और निश्चयरूप हो। प्रत्यक्ष के दो भेद हैं:—

निर्विकल्पक और सविकल्प। जैसे गो जाति के सम्बन्ध का ज्ञान सम्बन्धियों को पहले २ अलग जाने विना नहीं हो सकता। इससे सम्बन्धरहित ज्ञान अलग २ हुआ है पीछे

"यह गौ है" ज्ञान हुआ है। इनमें पहला निर्विकल्प है। उसके पीछे जो सम्बन्धको प्रकट करनेवाला ज्ञान हुआ है, यह सविल्पक है। निर्विकल्पक कहने में नहीं आता, वह ऐसा प्रत्यक्ष है, जैसा बाल वा गूंगे को प्रत्यक्ष होता है। और सवि-ल्पक कहने सुनने में आता है। लिंग (चिन्ह) को देखकर लिङ्गी (चिन्हवाले) का जानना '**अनुमान**' है; जैसे धूम को देखकर अग्नि का, कारीगरी को देखकर कारीगर का। यहां धूम लिङ्ग और अग्नि लिंगी है। अनुमान तीनप्रकार का है १ पूर्ववत्, २ शेषवत्, ३ सामन्यतोदृष्ट। जहां प्रत्यक्ष भूत लिंग लिंगी में से एक के देखने से दूसरे का अनुमान होता है, वह '**पूर्ववत्**' है, जैसे धूम से अग्नि का। यहां दोनों प्रत्यक्ष का विषय हैं। जहां २ प्रसंग जास कता है, वहां २ से हटाकर शेष बचे हुए का अनुमान '**शेषवत्**' है। अर्थात् परिशेषानुमान शेषवत् कहलाता है। सामान्यतो दृष्ट वहां होता है, जहां लिंगी को पहले प्रत्यक्ष देखा हुआ नहो जैसे छेदने आदि कुल्हाड़ी अर्थात् यद्यपि सामान्यरूप से यह देखा गया है कि जो क्रिया होती है उसका कोई करण अवश्य होता है। पर जैसा करण यहां अनुमान करना है, अर्थात् इन्द्रय रूप वैसा करण कभीभी देखा नहीं गया, इसलिये यह अनुमान **सामान्यतोदृष्ट** हैं। इसीप्रकार जगत् की रचना से रचने-हारे का अनुमान सामान्यतोदृष्ट है। पूर्ववत् वहाँ होता है, जहाँ पहले अनुमेय को भी देखा हुआ है, और सामान्यतो दृष्ट वहाँ होता है, जहाँ अनुमेय को कभी देखा नहीं है, इसी अनुमान से सदा अतीन्द्रिय जो पदार्थ हैं, उनका ज्ञान होता है। जैसे नदी को देख कर ऊपर वर्षा होने का वा बर्फ गलने का वा बेटे को देख कर बापका ज्ञान इत्यादि।

प्रसिद्ध सादृश्य से संज्ञासंज्ञि के सम्बन्ध का ज्ञान

'**उपमान**' है। जो गवय (नीलगाय) को नहीं जानता, वह यह सुनकर कि "जैसा गौ है, वैसा गवय है"

'**शब्द**'—आप्त अर्थात् सत्यवक्ता परोपकारी का उपदेश शब्द प्रमाण है। सब से सत्य परमात्मा है उनका ज्ञान-वेद सब से सत्य उपदेश है और जो वेद के अनुकूल है व सत्य है। प्रतिकूल असत्य है। शब्द दो प्रकार का है, दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ। जिसका अर्थ यहाँ देखा जाता है, वह दृष्टार्थ है, और जिसका अर्थ परलोक में प्रतीत होता है वह अदृष्टार्थ है। लौकिक वाक्य दृष्टार्थ है, और वैदिक वाक्य प्रायः अदृष्टार्थ है।

यह प्रमाणों का निरूपण हुआ अब इन प्रमाणों से प्रमातव्य जो अर्थ है, उनका निरूपण करते हैं।

[२]'**प्रमेय**'—आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग यह १२ प्रमेय हैं। इन मेंसे इस शरीर में भोगने वाला 'आत्मा' है, इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-सुख-दुःख और ज्ञान उसके चिन्ह हैं, जिनसे वह शरीर से अलग ज्ञात होता है। उसके भोगने का घर, जिसमें बैठ कर वह भोगता है, 'शरीर' है, भोग के साधन 'इन्द्रिय' हैं, भोगने योग्य जो विषय (रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श) हैं, वह 'अर्थ' हैं, उनका भोगना (अनुभव करना) 'बुद्धि' है। सारे इन्द्रियों का सहायक और सुख दुःखादि का अनुभव कराने वाला अन्तःकरण 'मन' है। मनवाणी और शरीर से किसी कर्म का आरम्भ 'प्रवृत्ति' है। प्रवृत्ति करनेवाले राग, द्वेष और मोह 'दोष' हैं। मरकर फिर जन्मना 'प्रेत्यभाव' है, सुख दुःख का अनुभव करना 'फल' है। पीड़ा 'दुःख' है, और उससे विल्कुल छूटना 'अपवर्ग' (मोक्ष) है। यह प्रमेय का निरूपण हुआ अब क्रम प्राप्त संशय आदि का निरूपण करते हैं।

[३] 'संशय'—एक धर्मी में विरुद्ध नाना धर्मों का ज्ञान संशय होता है, वह तीन प्रकार का है—साधारण धर्म के ज्ञान से जन्य, असाधाररण धर्म के धर्म से जन्य और विप्रतिपत्ति वाक्य के ज्ञान से जन्य। पहला जैसे दूर से देखकर (यह स्थाणु) (खम्भा) होगा वा पुरुष यह संशय होता है, यहाँ स्थाणु और पुरुष का जो साझा धर्म है-ऊँचा होना आदि, उसके ज्ञान से दोनों में संशय हुआ है। दूसरा, जैसे बाँस के दो दल के विभाग से शब्द उत्पन्न होता है, अब यह शब्द में विभाग जन्य होना शब्द का असाधारण धर्म है। तीसरा, जैसे "है आत्मा" यह एक कहता है, "नहीं है" यह दूसरा। वहाँ सुननेवाले को संशय होता है, कि क्या आत्मा है वा नहीं है।

[४] 'प्रयोजन'—जिस अर्थ की इच्छा को धारण करके कार्य में प्रवृत्ति होती है, वह प्रयोजन है।

[५] 'दृष्टान्त'—जिस अर्थ में साधारण लोगों की और परीक्षकों की बुद्धि की समता होती है, वह दृष्टान्त है। जैसे अग्नि के अनुमान में रसोई। दृष्टान्त के विरोध से ही परपक्ष खण्डनीय होता है, और दृष्टान्त के समाधान से ही अपना पक्ष स्थापनीय होता है।

[६] 'सिद्धान्त'—प्रामाणिकत्वेन माना हुआ जो अर्थ है, वह सिद्धान्त है। सिद्धान्त चार का है—१ सर्वतन्त्र सिद्धान्त, प्रतितन्त्रसिद्धान्त, अधिकरणसिद्धान्त, और अभ्युपगम सिद्धान्त। जो सारे शास्त्रों का सिद्धान्त हो, जिसमें किसी का विरोध न हो, वह 'सर्वतन्त्रसिद्धान्त' कहलाता है, जो अपने २ शास्त्र का अलग २ सिद्धान्त है, वह 'प्रतितन्त्रसिद्धान्त' है, जिसकी सिद्धि दूसरे अर्थों का सिद्धि पर निर्भर है, वह 'अधिकरणसिद्धान्त' है। जैसे ज्ञाता देह और इन्द्रियों से अलग है।

वादी की मानी हुई वात को ही मानकर उस पर विचार करना 'अभ्युपगमसिद्धान्त है, यह व्यर्थ झगड़े से बचने के लिये वा अपनी बुद्धि का अतिशय जितलाने के लिये माना जाता है। अर्थात् जो सूत्र में न कहा हो, पर माना हो, जैसे मन का इन्द्रिय होना गौतम ने सूत्र में नहीं कहा, पर उसका अभ्युपगम (स्वीकार) है, अतएव यह 'अभ्युपगमसिद्धान्त' है।

[७] 'अवयव'—पूर्व प्रमाणों में जो अनुमान कहा है, वह दो प्रकार का होता है ? स्वार्थानुमान (अपने लिये अनुमान) और २ परार्थानुमान (दूसरे के लिये अनुमान) स्वार्थानुमान—जिसने धूम और अग्नि की व्याप्ति जानी हुई है, उसको धूम को देखने से व्याप्ति का स्मरण होकर अग्नि का अनुमान हो जाता है। परार्थानुमान—यह जब वह दूसरों को निश्चय कराना चाहता है, तो उसको अग्नि की सिद्धि के लिये मुख से वाक्य कहना पडता है। उसके पाँच अवयव हैं—१ प्रतिज्ञा २ हेतु ३ उपनय और ५ निगमन। यहाँ "पर्वत में अग्नि है,,यह प्रतिज्ञा (दावा) है, "क्योंकि वहाँ धूम है" यह हेतु (अपनी प्रतिज्ञा की सिद्धि का साधन है। "जहाँ धूम होता है, वहाँ २ अग्नि होती है जैसे रसोई में" यह उदाहरण (मिसाल) है "वैसा यह पर्वत है" यह उपनय है, "इसलिये इसमें अग्नि है,, यह निगमन (उपसंहार) है।

[८] 'तर्क,—युक्ति तर्क है, इसका काम प्रमाणों की

सहायता है। युक्ति द्वारा जब असम्भव अर्थ कट जाते हैं, और संभव अर्थ रह जाता है, तो उसको प्रमाण द्वारा सिद्ध कर लिया जाता है। अप्रयोगकत्वाशंका को तर्क मिटा देता है।

[९] **'निर्णय'**—पक्ष प्रतिपक्ष के द्वारा विचार करके जो अर्थ का निश्चय करना है, वह निर्णय है।

[१०] **'वाद, [११] जल्प और [१२] वितण्डा'**—तीन प्रकार की कथा (बातचीत) होती है—वाद, जल्प और वितण्डा। जो तत्व का जिज्ञासु है, उसकी कथा **'वाद'** है। इसमें प्रमाण और तर्क से ही काम लिया जाता है, न कि छल आदि से। और विजिगीषु (जानने की इच्छावाले) की कथा **'जल्प'** है। इस लिये वह अपने पक्ष की पुष्टी में छल जाति आदि का भी प्रयोग करता है। और अपने पक्ष की स्थापना से हीन जो कथा है वह **'वितण्डा'** है। केवल दूसरे के पक्ष पर आक्षेप किये जाना, प्रमाण से, तर्क से, छल से, जाति से, सब तरह आक्षेप किये जाना, बस यही 'वैतण्डिक' का काम होता है। यह निकृष्ट कथा प्रायः ईर्ष्या से प्रवृत्त होती है। इसलिये वैतण्डिक के साथ कथा में प्रवृत्त नहीं होना चाहिये, वा धक्के से उसका पक्ष स्थापन कर लेना चाहिये, ताकि हिल न सके।

[१३] **हेत्वाभास,**—जो वस्तुतः हेतु नहीं और हेतु की नाईं भासे, वह 'हेत्वाभास' होता है। हेत्वाभास को असद्धेतु और वास्तव हेतु को सद्धेतु भी कहते हैं।

हेत्वाभास पाँच प्रकार का है:—१ सव्यभिचार, २ विरुद्ध, ३ प्रकरणसम, ४ साध्यसम, और ५ कालातीत। जो हेतु अपने साध्य के व्यभिचारी हो, अर्थात् जहाँ साध्य नहीं, वहाँ भी हो

सके, वह 'सव्यभिचार हेत्वाभास' होता है। माने हुए अर्थ का विरोधी हेतु 'विरुद्ध' है। जिससे प्रकरण चल रहा हो, उसको हेतु के तौर पर कहना 'प्रकरणसम' है जो हेतु स्वयं सिद्ध नहीं, उसको साध्यसम कहते हैं। जो हेतुसाध्य के काल में न हो, वह 'कालातीत' कहलाता है।

[१४] छल'—दूसरे अभिप्रायसे कहे हुए शब्दका दुसरा अभिप्राय कल्पना करके दूषणदेना छल है। वह तीन प्रकार का है, **वाक्छल, सामान्यछल** और **उपचारछल**।

सामान्य शब्द को वक्ताके अभिप्रायके विरुद्ध विशेष अर्थ में लेजाना 'वाक्छल' है। जैसे किसीने कहा "नवकम्बलो ऽयंपुरुषः" यह पुरुष नये कम्बलवाला है पर नवकम्बल शब्द के दो अर्थ होसकते हैं, नये कम्बल और नौ कम्बलोंवाला। सो यह छलवादी दूसरे अर्थको लेकर उसेदूषण देता है इत्यादि प्रशंसावाद वा प्रायोवाद से कहे हुये वचनको हेतुपरक वा नियमपरक लेजाना 'सामान्यछल' है। जैसे किसीने कहा, कि अहो यह ब्राह्मण पुत्र कैसा विद्या और धर्मसे सम्पन्न है, इस पर कोई कहे कि ब्राह्मणसुत में विद्या और धर्मसे सम्पत्ति होती ही है। इस वचनपर यह दूषण देना, कि "यदि ब्राह्मणसुत विद्या और धर्मसे संपन्न होता ही है तो व्रात्य (संस्कारहीन) भी विद्या और धर्मसे सम्पन्न हो, क्योंकि वह भी ब्राह्मण सुत है" यह 'सामान्य छल' है। इसका उत्तर यह है कि यहां ब्राह्मण पुत्र में विद्या और धर्म की संपत्तिके अधिक संभव होने से उसकी प्रशंसा की है, नकि ब्राह्मणपुत्र होना विद्या और और धर्म की संपत्ति का हेतु कहा है, उसको हेतु बनाकर दूषण देना मिथ्या है। इसीप्रकार "**रात्रिःस्वप्नाय भूतानांचेष्टायैकर्मणामहः**" = रात प्राणियों के सोने के लिये

और दिन कामके लिये है (मनु०) यह 'प्रायोवाद' है, नकि नियम किया है, इसलिये इसपर यह दूषण देना कि रातको भी उल्लू आदि प्राणी जागते हैं, इसलिये यह वचन ठीक नहीं, मिथ्या है। उपचार से कहे हुए शब्द को मुख्य अर्थ में लेकर दूषण देना **उपचारछल** है। जैसे "मञ्चाः क्रोशन्ति" मचान पुकार रहे हैं। इसपर यह दूषण देन–कि "मचानोंपर बैठे हुए पुरुष पुकार रहे हैं, नकि मचान" यह उपचारछल है। क्योंकि यहां मचान शब्द मुख्य नहीं किन्तु गौण है, मञ्चस्थपुरुषों के अर्थ मेंही प्रयुक्त हुआ है, प्रधान और गौण शब्दका प्रयोग वक्ताकी इच्छापर होता है, और अर्थ उसीके अभिप्रायसे लिया जाता है, जब वह प्रधान शब्द का प्रयोग करता है, तो मुख्य अर्थ लेना चाहिये, और जब गौण शब्द का प्रयोग करता है, तो गौण अर्थ लेना चाहिये।

[१५] **'जाति'**—असत् उत्तर 'जाति' है, जब कोई सच्चा उत्तर नफुरे, तो साधर्म्य वैधर्म्य को लेकर ही जो समय टाला जाता है वह जात्युत्तर होता है। उसके चौबीस भेद हैं।

[१६] **'निग्रहस्थान'**—ऊत्तर का न देना वा उलटा देना निग्रहस्थान अर्थात् पराजय की जगह है। निग्रहस्थान बाईस प्रकार का है।

द्रष्टव्य—इन सोलह पदार्थों में से प्रमेय के तत्त्वज्ञानसे मोक्ष होता है। सोलह पदार्थों का तत्त्वज्ञान इस क्रमसे मोक्ष का हेतु हैं।

मुक्ति का क्रम—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः (न्या० १। १। २)॥

अर्थः—दुःख, जन्म, प्रवृत्ति (धर्म, अधर्म) दोष (राग, द्वेष, मोह) और मिथ्याज्ञान इनमें से उत्तर २ के नाशमें उससे २ अनन्तर (पूर्व) का नाश होनेसे अपवर्ग (मोक्ष) होता है। शरीर को आत्मा समझना इत्यादि जो मिथ्याज्ञान है, उससे राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं- राग द्वेषसे पुण्य पाप' पुण्य पापसे जन्म, जन्मसे दुःख। यह सिलसिला संसार चक्र का है। अब जब आत्मा का तत्वज्ञान होता है, तो तत्त्वज्ञानसे साक्षात् दुःख नाश नहीं होता है, क्योंकि तत्त्वज्ञान मिथ्याज्ञानका विरोधी है, नकि दुःख का। इसलिये तत्त्वज्ञान से मिथ्या ज्ञान कानाश होता है, मिथ्याज्ञानके नाशसे रागद्वेषका, रागद्वेष के नाशसे पुण्य पापका अर्थात् जिसमें रागद्वेष नहीं, उसकी प्रवृत्ति पुण्यपाप के संस्कारों से रहित होती है। पुण्यपापके नाशसे जन्मका नाश और जन्म के नाशसे दुःखका नाश होता है। दुःखका अत्यन्त नाशही मोक्ष है।

तीसरा—सांख्यदर्शन।

इस दर्शन के प्रवर्तक कपिलमुनि हैं, अतएव इस दर्शन को कपिलदर्शन कहते हैं। और प्रकृति से लेकर स्थूलभूत पर्यन्त सारे तत्वों की संख्या कहने से सांख्यदर्शन कहते हैं। इस दर्शनका उद्देश्य प्रकृति पुरुषकी विवेचना करके उनके अलग २ स्वरूपको दर्शाना है, क्योंकि प्रकृति से अपने आप को विविक्त (अलग) न देखता हुआ ही पुरुष बद्ध है, और विविक्त देखता हुआ ही मुक्त होता है।

सांख्य का प्रचार।

यह प्रसिद्धि है, कि कपिलमुनि ने २२ सूत्र रचकर आसुरि मुनि को उपदेश किये। आसुरिमुनि ने पञ्चसिखाचार्य्य को, पञ्चशिखाचार्य्य ने सविस्तर शास्त्ररचा। योगदर्शन के व्यास-भाष्य में जो सूत्र प्रमाणतया उद्धृत किये हैं, वह सब पञ्चशिखा-चार्य्य के हैं। यह सूत्र बड़ेही सुन्दर और गम्भीर हैं। यह यही उद्धृत सूत्र अब हमारे पास थोड़े से रह गये हैं। मूलग्रंथ लुप्त हो गया है।

वर्तमान सांख्यदर्शन और सांख्यकारिका।

वर्तमान सांख्यदर्शन भी कपिलमुनि का बनाया हुआ कहा गया है। पर इसमें भी कोई संदेह नहीं, कि प्राचीन आचार्यों (शंकराचार्य, वाचस्पतिमिश्र आदियों) ने इसका कोई भी सूत्र उद्धृत नहीं किया, पर सांख्य की कारिकाएं बहुधा उद्धृत की हैं। और टीका भी वाचस्पतिमिश्रकी कीहुई इन कारिकाओं पर जो हैं, वह वर्तमान दर्शन के विज्ञानभिक्षु कृत भाष्य से पुरानी है। यह कारिकाएं आर्याछन्द में ईश्वरकृष्ण ने बनाई हैं। सूत्रवत् संक्षेप से सांख्य का सार विषय इनकारिकाओं में दिखलाया गया है।

द्रष्टव्यः—शरीर में रहने से जीवात्मा और संसार में व्यापाक होने से परमात्मा पुरुष शब्द से लिये गये हैं और न्याय में आत्मा और सांख्य में पुरुष शब्द एक ही अर्थ के बतलानेवाले, समझना चाहिए।

सांख्य सम्मत २५ पदार्थों के नाम।

[illegible]ति, महत् (महत्तत्त्व), अहङ्कार, पञ्चतन्मात्र, एकादश इन्द्रिय, पञ्चमहाभूत, और पुरुष यह पचीस तत्त्व हैं।

प्रकृतिविकृतिभाव ।

प्रकृति उसे कहते हैं जिससे कोई वस्तु बने और जो बने उसको विकृति कहते हैं। जैसे मट्टी से घड़ा बनता है। यहां मट्टी प्रकृति है और घड़ा विकृति (वा विकार) है।

सांख्य सम्मत पदार्थों के चारप्रकार ।

अब इन पच्चीस अर्थों में से कोई अर्थ 'केवलप्रकृति' है, कोई 'प्रकृतिविकृति' है, कोई 'केवलविकृति' है, कोई 'न प्रकृति न विकृति' है। जो मूल प्रकृति है अर्थात् जिससे आगे बनना आरम्भ हुआ है, पर वह आप किसी से नहीं बनी, वह केवल प्रकृति है, वही मुख्य प्रकृति है, इसलिये उसी को ऊपर प्रकृति कहा है। और मुख्य विकृति होने से ही उसको '**प्रधान**' कहते हैं। '**अव्यक्त**' भी इसी का नाम है।

इस प्रकृति में जब सृष्टि के लिये क्षोभ (हिलचल) होता है, तो पहलेपहल जो तत्त्व इससे उत्पन्न होता है, उसका नाम है महत्, फिर जो महत् से उत्पन्न होता है, उसका नाम है 'अहङ्कार' फिर अहङ्कार से पञ्चतन्मात्र (अर्थात् रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र, गन्धतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र और शब्दतन्मात्र) और ग्यारह इन्द्रिय (वाणी, हाथ पाद, पायु और उपस्थ यह पांच कर्मेन्द्रिय, नेत्र, श्रोत्र, घ्राण, रसना, और त्वचा यह पंच ज्ञानेन्द्रिय और ग्यारहवां मन)। पञ्चतन्मात्रों से पंचमहाभूत उत्पन्न होते हैं (गन्धतन्मात्र से पृथिवी, रसतन्मात्र से जल, रूपतन्मात्र से तेज, स्पर्शतन्मात्र से वायु और शब्दतन्मात्र से आकाश)। इनमें से महत्‌अहङ्कार प्रकृति और प्रधान की विकृति है, इसी प्रकार अहङ्कार तन्मात्र और इन्द्रियों की प्रकृति और महत् की विकृति है, और पञ्चतन्मात्र पञ्चमहाभूतों की प्रकृति और अह-

ङ्कार की विकृति हैं। इसलिये महत्, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्र यह प्रकृतिविकृति हैं। और ग्यारह इन्द्रिय और पञ्चमहाभूत केवल विकृति हैं, क्योंकि यह उत्पन्न हुए हैं, पर इनसे आगे कुछ उत्पन्न नहीं होता। (प्रश्न) यहां पृथिवी आदि की भी गौ वृक्ष आदि विकृति हैं, और उनकी भी आगे दधि अंकुर आदि विकृति हैं। (उत्तर) पृथिवी स्थूल है और इन्द्रियग्राह्य है इसी प्रकार गौ वृक्षादि हैं। इसलिये गौ आदि पृथिवी आदि से कोई अलग तत्व नहीं। और यहां ऐसी विकृति से अभिप्राय है, इसलिये यह केवल विकृति ही कहे हैं। अब पुरुष न प्रकृति न विकृति है; न उससे कुछ बनता है, न वह किसी से बना है। जैसा कि कहा है—"मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याःप्रकृतिविकृतयःसप्त । षोडशकस्तुविकारोनप्रकृतिर्नविकृतिःपुरुषः" मूल प्रकृति किसी की विकृति नहीं है महत् आदि सात (महत्, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्र) प्रकृति विकृति हैं। सोलह (पंचमहाभूत और ग्यारह इन्द्रिय) विकृति हैं, और पुरुष न प्रकृति न विकृति है। सां० का० ३) ॥

तीन प्रमाण।

प्रमेय की सिद्धि प्रमाण के आधीन है, इसलिये तीन प्रकार का प्रमाण माना है—१ प्रत्यक्ष २ अनुमान ३ शब्द। और सारे प्रमाण इन्हींके अन्तर्गत आ जाते हैं।

सत्कार्यवाद और कार्यकारण का अभेद।

जो कुछ इस जगत् में है, वह सदा से है, और जो नहीं है, वह कभी भी नहीं होता है। नया कार्य उत्पन्न होता हुआ जो हमें प्रतीत होता है, वह भी नया नहीं हो रहा, पहले ही था, पहले अव्यक्त (छिपा हुआ) था, अब व्यक्त हुआ है, जैसे पीलने से तिलों में से तेल, कूटने से धान में से चावल, और दोहने से

गौवों में से दूध व्यक्त होता है, इसीतरह दूध से दही और दही से मक्खन व्यक्त होते हैं। यदि उनमें पहलेहीन होते तो कभी व्यक्त न होते। इसीतरह मट्टी में घड़ा और तन्तुओं में वस्त्र पहलेही विद्यमान थे, पहले अव्यक्त थे, अब व्यक्त हुए हैं। इस तरह कार्य को उत्पत्ति से पहले ही सत् (विद्यमान) मानना सत्कार्यवाद है। सत्कार्यवाद में कार्यकारण का अभेद माना जाता है, क्योंकि हरएक कार्य अपने कारण की बहुत सी अवस्थाओं में से एक अवस्था विशेष है। और नाश भी अभाव नहीं, किन्तु कारण में लय होता है, जैसे बर्फ का पिघल कर फिर पानी हो जाना। और पानी का फिर भाप हो जाना। इसलिये सांख्य सिद्धान्त यह है—"नासतआत्मलाभो नसतआत्महानम्" = जो नहीं है, उसको स्वरूप लाभ नहीं होता, और जो है, उसका स्वरूप नाश नहीं होता।

परिणामवाद।

जो कुछ इस जगत् में हो रहा है, यह सारा परिणाम का फल है, अर्थात् हरएक वस्तु बदल रही है, दूध दही बन जाता है, और पानी बर्फ। बीज अंकुर बन जाता है, और अंकुर एक बड़ा बनस्पति। इस प्रकार सर्वत्र ही परिणाम हो रहा है।

परिणाम का कारण।

इस परिणाम का कारण गुणों का अपना स्वभाव है, क्योंकि "चलंहिगुणवृतम्" चलना गुणों का स्वभाव है, वह कभी ठहरे नहीं रहते, इसलिये उनमें परिवर्त्तन होता ही रहता है।

सदृश परिणाम और विसदृश परिणाम।

जो वस्तु चिरकाल तक एक ही रूप में दीखती है, वह भी परिणत हो रही है, जैसे एक पत्थर क्षण २ में परिणत हो रहा है, और इसीलिये वह भी कभी जाकर बालू हो

जाता है। भेद केवल इतना होता है, कि कभी सदृशपरिणाम होता है और कभी विसदृश। जबतक दूध दूध, है तबतक उसमें सदृशपरिणाम होता है, जब वह दही बनने लगता है, तो विसदृशपरिणाम प्रवृत्त होता है। पर परिणाम दूध की अवस्था में भी हो रहा है, अतएव ताज़ह दूध से देर के दोहे हुए का प्रभाव बदल जाता है। गुण कभी ठहरते नहीं, इसलिये प्रलयावस्था में भी उनका सदृशपरिणाम होता रहता है, जब सृष्टि की ओर झुकते हैं, तो विसदृश परिणाम होता है।

विसदृश परिणाम में विलक्षणता।

विसदृशपरिणाम अपने कारण से सदा विलक्षण होता है, पर कभी २ इतना विलक्ष, कि बुद्धि अति आश्चर्य मानती है। कहाँ मनुष्य का बीज और कहां उससे हाथ पाओं आदिवाला शरीर। वस्तुतः इस विसदृशपरिणाम का ही फल है, कि एक रूप प्रकृति से असंख्यात नानारूप बन गए हैं।

तीन गुण और उनकी पहिचान।

सत्त्व, रजस, तमस् यह तीन गुण हैं। इनमें से सत्त्व सुखात्मक है। अन्तःकरण में जब सत्त्व गुण का उदय होता है, तो उसका सुखात्मक परिणाम होता है। एवं रजस् दुःखात्मक और तमस् मोहात्मक है। हरएक वस्तु सुखदुःख और मोह की जनक है, अतएव हर एक वस्तु त्रिगुणात्मक है। **प्रकृति में यह तीनों गुण साम्यावस्था में है, और कार्य में विषमावस्था में।**

हरएक वस्तु त्रिगुणात्मक है, पर हरएक वस्तु में कोई एक गुण प्रधान होता है, और दूसरे गौण। प्रकाशक वस्तुओं में सत्त्व प्रधान है, चलनात्मक में रजस् और ठोस में तमस्।

तथा एक ही वस्तु में भी द्रष्टा की रुचि भेद से भिन्न २ गुणों की अभिव्यक्ति होती है। पर उसके शत्रुओं को दुःख होता है, क्योंकि उनके प्रति रजोगुण की अभिव्यक्ति और अन्यजनों का मोह होता है, क्योंकि उनके प्रति तमोगुण की अभिव्यक्ति होती है। इसीप्रकार सारे भाव जानो। सो उत्पत्ति वोली जो नाम वस्तु है, उसमें गुणों का विषमभाव है, कोई एक गुण प्रधान और दूसरे दो अप्रधान होते हैं। पर प्रलय में यह विषमता नहीं होती, सारे गुण साम्यावस्था में होते हैं। गुणों की इस साम्यावस्था कोही प्रकृति कहते हैं। अर्थात् यह साम्यावस्था असली अवस्था है, इस असली अवस्था का नाम प्रकृति है, उसमें भी तीनों गुण हैं। इसी अवस्था को प्रलयावस्था कहते हैं, क्योंकि इस अवस्था में सारी बनावट अपने असली स्वरूप में लीन हुई होती है। और कार्य्य जगत् इसमें अव्यक्त होता है, इसलिए इसको अव्यक्त कहते हैं। विषमता सदा पीछे आती है, गुणों की अवस्था में यही (विषमता) सृष्टि की अवस्था है। (**प्रश्न**) सत्त्व, रजस, तमस् स्वयं द्रव्य हैं, न कि किसी अन्य द्रव्य के गुण, जैसे की रूपादि हैं। फिर इनको गुण क्यों कहा जाता है? (**उत्तर**) कारण कि पुरुष भोक्ता है, और गुण उसका भोग्य हैं। भोक्ता भोग्य के प्रति प्रधान होता है, और भोग्य भोक्ता के प्रति गुण (गौण)। इस गुण प्रधान भाव को लेकर इनको गुण कहा है। अथवा गुण रस्सी को कहते हैं; यह गुण पुरुष के लिये एक फांस है, इसलिये इनको गुण कहा है।

गुण कभी संयुक्तवियुक्त नहीं होते।

सत्त्व, रजस, तमस, एक दूसरे से सहचारी हैं। सत्त्व रजस तमस् के बिना, रजस-सत्त्व-तमस् के बिना और तमस्

सत्त्व-रजस् के बिना नहीं होता। न इनका कोई आदि संयोग है, और न कभी वियोग होगा। सर्वत्र तीनों विद्यमान हैं। हाँ गुण प्रधान भाव इनमें होता रहता है।

पुरुष इन गुणों से भिन्न इनका भोक्ता है।

पुरुष बोधस्वरूप है, अतएव द्रष्टा है। यह गुण दृश्य है, वह इनका द्रष्टा है, यह भोग्य हैं, वह भोक्ता है। गुण परस्पर संहत हैं, वह केवल है, गुणों में परिणाम होता है, वह एक रस रहता है, अतएव वह साक्षिवत् द्रष्टा है, देखते हुए भी उसमें कोई परिणाम नहीं होता।

पुरुष की सिद्धि में प्रमाण।

प्रकृति और उसका कार्य्य सारा जड़ है, उसमें बोध नहीं हो सकता, इसलिये बोद्धा पुरुष इनसे भिन्न है। किञ्च जो नाम संघात है, किसी दूसरे के अर्थ होता है जैसे शय्या आसन आदि हैं। इसीप्रकार महत् अहङ्कारादि सब संघात है, इस इसलिये इनसे भिन्न अवश्य कोई दूसरा असंहत होना चाहिये जिसके लिये यह संहत हुए हैं, वही पुरुष है।

पुरुष नाना हैं।

यदि सारे देहों में एकही आत्मा हो, तो उसमें जब शरीर को चलाने का प्रयत्न हो, तो सारे ही चल पड़े। वह जब किसी एक देह में नेत्र से कोई वस्तु देखें तो सारे शरीरों में उसका ज्ञान होजाए, क्योंकी आत्मा सर्वत्र एक है। एकके सुखी होने से सारी सुखी और दुःखी होने से सारे दुःखी हों। पर नाना पुरुष मानने में यह दोष नहीं आता है इसलिये पुरुष नाना हैं।

प्रकृतिपुरुष का संयोग और संयोग का फल।

इस विश्व में दो बड़ी शक्तियों का प्रवेश है, एक क्रिया शक्ति और दूसरी चैतन्यशक्ति। इन दोनों में से क्रियाशक्ति प्रकृति में है, और चैतन्यशक्ति पुरुष में। इन दोनों शक्तियों को एक दूसरे की अपेक्षा होनेसे प्रकृति पुरुष का सम्बन्ध हुआ है। जैसे किसी बाग में लूला और अन्धा हो। वह यदि दोनों अलग २ रहें, तो दोनों वहांनिरर्थक पड़े रहेंगे, क्योंकि लूले को फूलों तक पहुंच नहीं, और अन्धा देख नहीं सकता। पर यदि अन्धा लूले को अपने कन्धे पर उठाकर लूले को निर्दिष्ट मार्ग पर उसको ले चले, तो दोनों फूलों के भागी होंगे। इसीप्रकार प्रकृति अन्धी है, और पुरुष लूला है। इन दोनों का संयोग सृष्टि का हेतु है। सो कहा है—"पंग्वन्धवदुभयोरपिसंयोग स्तत् कृतः सर्गः = लूले और अन्धे की नांई दोनों का संयोग है, और उससे की हुई सृष्टि है। (सां० का० २१) ॥

प्रकृति का कार्य महत्।

प्रकृति में क्षोभ होकर जो पहलेपहल महत्व उत्पन्न होता है, उसका नाम महत्तत्त्व है। यह तत्त्व हमारे देह, में बुद्धि रूप से स्थित है, इसका नाम है निश्चय करना। धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य इसके सात्विक रूप हैं, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य तामस हैं जैसे कि कहा है—"अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मोज्ञानंविरागऐश्वर्यम्। सात्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम्" = बुद्धिनिश्चयरूप है। धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य उसके सात्विक रूप हैं, इससे उलटे (रूप) तामस है।

महत् का कार्य्य अहंकार।

फिर महत् में परिणाम होकर जो नयातत्व होता है वह

अहंकार है। हमारे देह में उसका काम "अभिमान है अर्थात् मैं हूं" "यह मेरा है" यह भाव अहंकार का कार्य्य है।

अहंकार का कार्य पञ्चतन्मात्र और इन्द्रिय।

अहंकार में परिणाम होकर जो नए तत्त्व होते हैं, वह पञ्चतन्मात्र ओर एकादश इन्द्रिय हैं। इन्द्रिय सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न होते हैं और तन्मात्र तामस से।

पञ्चतन्मात्र का कार्य्य पञ्चमहाभूत।

पञ्चतन्मात्राओं में परिणाम होकर जो नए तत्त्व होते हैं, वह **'पंच महाभूत'** हैं। इनमें शब्द तन्मात्रा से आकाश, स्पर्शतन्मात्रा से वायु रूप तन्मात्रा से तेज, रस तन्मात्रा से जल, और गन्धतन्मात्रा से पृथिवी उत्पन्न होती है। पृथिवी की उत्पत्ति में गन्धतन्मात्रा प्रधान है पर दूसरे तन्मात्र भी उसके साथ मिले हुए हैं। इसीप्रकार महाभूतों की उत्पत्ति में जानों।

त्रयोदशकरण।

पांच कर्मेन्द्रि, पांच ज्ञानेन्द्रिय और मन यह ग्यारह इन्द्रिय और इनके साथ बुद्धि और अहंकार यह तेरह आत्मा के पास करण (साधन) हैं। इनमें से मन, बुद्धि और अहंकार यह तीन अतःकरण हैं, और शेष 'वाह्यकरण हैं।

करणों में वुद्धि प्रधान है।

वाह्यकरण अपने २ विषय को बाहर से अन्दर पहुंचाते हैं और अन्दरस्थित बुद्धि, मन और अहंकार के साथ मिलकर उनका निश्चय करती है, इसलिये बाह्य कारण द्वार हैं, और अन्तःकरण द्वारि अन्तःकरण में भी बुद्धि प्रधान है। क्योंकि बाह्यइन्द्रिय विषय का आलोचन करके मन को समर्पण कर

देने हैं, मन संकल्प करके अहंकार को, अहंकार अभिमत करके बुद्धि को, बुद्धि उसको पुरुष के सामने रखती है, इसलिये बुद्धि प्रधान है। बुद्धिही शब्दादि विषयों को आत्मा के सामने रखती हे, और अन्त में बुद्धिही प्रकृति पुरुष का विवेक करती है। सो पुरुष के भोग और अपवर्ग का साक्षात् साधना होने से बुद्धि पुरुष का प्रधान मंत्री है।

सूक्ष्म शरीर।

बुद्धि अहङ्कार एकादश इन्द्रिय और पञ्चतन्मात्र इनका समुदाय **'सूक्ष्मशरीर'** है। इसी को लिङ्गशरीर कहते हैं। कर्म और ज्ञान इसीके सहारे पर हैं, और भोग भी इसी के आश्रय हैं। स्थूलशरीर के नाश से इसका नाश नही होता, अपितु शरीर के नाश होने पर यह कर्म और ज्ञान की वासनाओं से वासित हुआ इस शरीर से निकलता है, और उन्हीं वासनाओं के अनुसार नए जन्म का आरम्भक होता है। मानों यह नट की तरह अपने रूप बदलता रहता है। सूक्ष्म शरीर प्रलय पर्यन्त स्थायी है, प्रलयावस्था में प्रकृति में लीन हो जाता है। फिर सृष्टि काल में नया उत्पन्न होता है।

जड़चेतन की ग्रन्थी।

बुद्धि जड है और पुरुष चेतन है, पर पुरुष बुद्धिसे परे अपने आपको नही देखता, अपितु बुद्धि को ही अपना आप समझता हुआ बुद्धि के शान्त होने से शान्त घोर होने से घोर और मूढ़ होनेसे मूढ़ होता है जैसा कि पंचशिखाचार्य का सूत्र है—**"बुद्धित परं पुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यनकुर्यात्तत्रात्मबुद्धिंमोहेन"**= बुद्धि से परे पुरुष को, स्वरूप (सदाशुद्धहोना) स्वभाव (उदासीनता)

और चेतनता आदि द्वारा बुद्धि से अलग न देखता हुआ (अर्थात् पुरुष शुद्ध, उदासीन और चेतन है, और बुद्धि अशुद्ध अनुदासीन और जड़ है यह भेद न देखता हुआ उस (बुद्धि) में आत्मबुद्धि करलेता है। इसी को **चिदचिद्** **'ग्रन्थि** वा जड़ चेतन की गांठ कहते हैं। यही संसार का वा दुःख का मूल हैं।

इस ग्रन्थि को खोलना दुःख का पूरा इलाज है।

बुद्धि पुरुष का अविवेक ही दुःख का हेतु है, और विवेक ही उसका पूरा इलाज है। जब पुरुष बुद्धि से अपने आप को अलग करके देख लेता है, तो दुःख का हेतु मिट जाता है, जैसा कि पंचशिखाचार्य का सूत्र है **"तत्संयोगहेतुविवर्जनात्स्यादयमात्यन्तिकोदुःखप्रतीकारः"** । बुद्धि का संयोग जो दुःख का हेतु है, उसके छोड़ने से दुःख का आत्यन्तिक प्रतीकार (पूरा इलाज) हो जाता है। अर्थात् जब पुरुष बुद्धि से अपने आप को पृथक् देख लेता है, तो बुद्धि में उसकी आत्मभावना निवृत्त हो जाने से बुद्धि गत सन्ताप से सन्तप्त नहीं होता। इसप्रकार बुद्धि से निखर जानाही कैवल्य है।

तत्त्वसाक्षात्कार का फल।

इस प्रकार जब पुरुष सारे तत्त्वों को साक्षात् कर लेता है तो वह माया की फांसों से सर्वथा छूट जाता है, क्योंकि वह इस प्रकृत्ति को एक तामाशा देखने वाले की नाईं आराम में बैठा हुआ देखता है—"प्रकृतिपश्यतिपुरुषःप्रेक्षकवदवस्थितः सुस्थः"=तब प्रेक्षक की नाईं चैन से बैठा हुआ पुरुष प्रकृति को देखता है। यही जीवन मुक्त है। यही जिज्ञासुओं का गुरु है,

जिसका उपदेश बन्धन से छुड़ा देता है। इस जीवन मुक्त के लिए प्रकृति अपना काम बन्द कर देती है। यद्यपि बद्ध पुरुषों की भाँति प्रकृति का सम्बन्ध उसके साथ भी है, पर वह प्रकृति के उपभोगों से ऊपर हो गया है, उसके लिए प्रकृति की रचना का कोई प्रयोजन नहीं, "दृष्टामयेत्युपेक्ष कएकोदृष्टाऽहमित्युपरमत्यन्या। सतिसंयोगेऽपि तयोः प्रयोजनंनास्तिसर्गस्य" = 'मैंने देख ली है' इसलिये पुरुष प्रकृति से बेपरवाह हो जाता है, "और मैं देखी गई हूं" इसलिये प्रकृति काम बन्द कर देती है। अतएव अब इन दोनों का संयोग होते हुए भी सृष्टि का प्रयोजन नहीं रहा है। (सां० का० ६६) ॥

तत्त्वज्ञान के पीछे शरीर की अवस्थिति।

"सम्यग्ज्ञानधि गमाद्धर्मानीदीनामकारणप्राप्तौ। तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमिवद्धृतशरीरः।" (सां० का० ६७) तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति से धर्मादि अकारण बन जाते हैं (अर्थात् कर्म का बीज दग्ध हो जाता है) तथापि संस्कार के वश से ज्ञानी का शरीर बना रहता है। जैसे कुम्हार से चलाया हुआ चाक अपने आप घूमता है।

विदेह मोक्ष।

प्राप्तेशरीरभेदेचरितार्थत्वात्प्रधानविनिवृत्तौ। ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयंकैवल्यमाप्नोति (सां० का० ६८)=(उस संस्कार के समाप्त होने पर) जब शरीर गिरजाता है, तो अब प्रकृतिचरितार्थ होजाने से निवृत्त होजाती है (अर्थात् उसके लिये नया शरीर नहीं बनाती) तब वह अवश्यंभावी और अविनाशी के बल को प्राप्त होता है।

चौथा योगदर्शन।

इस दर्शन के प्रवर्त्तक पतञ्जलिमुनि हैं उनके नाम पर इस दर्शन को पातञ्जलदर्शन कहते हैं और इसमें योग का वर्णन होने से योगदर्शन कहते हैं। इस दर्शन का उद्देश्य आत्मा और परमात्मा के साक्षात् दर्शन कराना है, पर इस दर्शन में प्रवृत्त हुआ पुरुष अपने परम उद्देश्य पर पहुंचने से पहले ही इतना शक्तिमान होजाता है कि उसको अध्यात्म और बाह्य सारी शक्तियों का साक्षात् होजाता है, और विविध सिद्धियां प्राप्त होती हैं।

द्रष्टा और दृश्य का स्वरूप।

पुरुष 'द्रष्टा' है, और यह बाहर और भीतर प्रकृति का जितना कार्य है वह सब दृश्य है।

साक्षात् दृश्य केवल चित्त है।

पर द्रष्टा का साक्षात् दृश्य केवल चित्त ही है, क्योंकि बाहर का दृश्य बाहर होता है वह अन्दर बैठे हुए द्रष्टा का साक्षात् दृश्य हो नहीं सकता, क्योंकि उससे द्रष्टा का साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। सो बाहर के दृश्य इन्द्रियां द्वारा द्रष्टा के दृश्य बनते हैं। जैसे रूपवाले पदार्थ का प्रतिबिम्ब हमारे नेत्र की पुतली पर पड़ता है, उससे सूक्ष्म नाड़ियों में क्रिया होती है, और वह आकार मस्तिष्क (दिमाग) द्वारा चित्त पर पहुंचता है, अब चित्त उस पहले आकार से नए आकार (उस वस्तु के आकार) में आजाता है। अब यह दृश्य द्रष्टा के

सामने आ जाता है। अब यह दृश्य द्रष्टा के सामने है वह इसको देख लेता है।

चित्त और उसकी वृत्तियां।

चित्त त्रिगुणात्मक है, पर सत्त्व प्रधान है, इसलिये प्रकाशक है। जब कोई बाहर का दृश्य आकर इसपर पड़ता है, तो वह तदाकार होजाता है, अर्थात् अपने आकार को उसके आकार में बदल लेता है, इसी आकार को वृत्ति (ख्याल) कहते हैं। जब दूसरा दृश्य आता है, तो भी पूर्व संस्कारों के वश से ही वृत्तियां बदलती रहती हैं। यह वृत्तियां जितनी उत्पन्न होती रहती हैं, सब आत्मा के सामने होती हैं, इसलिये इनमें से कोई भी वृत्ति अज्ञात नहीं रहती, आत्मा सबको अनुभव करता रहता है। इस अनुभव को बोध या दृष्टि कहते हैं, और आत्मा बोद्धा या द्रष्टा कहलाता है।

❀ वृत्तियों के पांच भेद ❀

चित्त की वृत्तियां क्षण २ में नई २ बदलती रहती हैं, जागते भी और सोते भी। उनकी एक दिन की गिनती का भी कुछ ठिकाना नहीं। तथापि वह सारी इन पांच भेदों में आजाती हैं। १ प्रमाण, २ विपर्यय, ३ विकल्प, ४ निद्रा, और पूर्वस्मृति।

१—जिस वृत्ति से यथार्थ बोध हो, उसको प्रमाण कहते हैं, वह तीन प्रकार का है। यथाः—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम।

२—और जिससे अयथार्थ बोध हो, वह विपर्यय अर्थात् भ्रान्ति, मिथ्याज्ञान, अविद्या है।

३—और जो कहने की चाल में ठीकहो और वस्तु से शून्य हो उस वृत्ति को विकल्प कहते हैं, "जैसे पानी से हाथ जल गया" यह वृत्ति वस्तु से शून्य इसलिये है कि, हाथ पानी से नहीं जला, किन्तु पानी में जो अग्नि है उससे जला है, पर क-

हने की चाल ऐसी ही है, समझ बूझवाले भी ऐसा ही कहते हैं, इसलिये यह अज्ञान भी नहीं।

४-निद्रावृत्ति यह है, जब मनुष्य गाढ़ सो जाता है, जिससे उठकर कहता है, कि ऐसा बेसुध सोया, मुझे कोई सुध नहीं रही। यह निद्रा भी चित्त की एक वृत्ति है, अतएव जागने पर इसका स्मरण होता है।

५—और इन वृत्तियों के अनुभव से जो संस्कार उत्पन्न होते हैं, उन संस्कारों से जो फिर वृत्ति उत्पन्न होती है, वह स्मृति है स्मृति के संस्कारों से भी फिर स्मृति होती है।

❀ चित्तकी पांच अवस्थाएं ❀

चित्तकी पांच अवस्थाएं होती हैं, १ क्षिप्त,२ मूढ़ ३ विक्षिप्त, ४ एकाग्र और ५ निरुद्ध। जबचित्त अत्यन्त अस्थिर होता है वह क्षिप्तावस्था है। जब ज्ञानकी ओर झुकता ही नहीं, वह मूढ़ावस्था है। जब कुछ थोड़ासा टिकता भी है, पर जल्दी घबरा कर विचल जाता है, वह विक्षिप्तावस्था है। जब एक ही अर्थ में पूरा टिक जाता है, उसी अर्थ में ध्यान की एकतान बन्ध जाती है वह एकाग्रतावस्था है। इससे आगे भी एक और अवस्था है,वह यह है कि चित्त को यहां तक रोक दिया जाए कि उसमें कोई भी वृत्ति उदय न हो न कोई नई वृत्ति,न कोई पिछला स्मरण और नहीं नीन्द हो वह निरुद्धावस्था है। इनमें से पहली अवस्था व्यवहारियों की, दूसरी नीचों की, तीसरी जिज्ञासुओं की, और चौथी और पांचवी योग की अवस्था है। चौथी का नाम सम्प्रज्ञातयोग और पांचवी का नाम असम्प्रज्ञात योग है। चौथी अवस्था में चित्त जहां टिकता है, उसको ठीक ठीक जान लेता है, इसलिये उसको सम्प्रज्ञात कहते हैं। पांचवी चित्त बिलकुल रुक जाता है, उसमें कोई वृत्ति बनता ही नहीं। में इसी लिये उस को असम्प्रज्ञात कहते हैं। यही मुख्य योग है।

अतएव कहा है। "योगश्चित्तवृत्ति निरोधः" योग, चित्त की वृत्तियों का निरोध है।

❀ निरोधावस्था में द्रष्टा की स्थिति ❀

जबतक चित्त में कोई वृत्ति है, तबतक द्रष्टा उस वृत्ति को देखता है। पर जब निरुद्धावस्था में उसमें कोई वृत्ति नहीं होती—"तदाद्रष्टुःस्वरूपेऽवस्थानम्,, (यो। १। ३) = तब-द्रष्टा की अपने स्वरूप में स्थिति होती है। अर्थात् अन्य दृश्य के न होने से अपने आप में स्थित हुआ आत्मदर्शी होता है।

❀ निरोध के उपाय अभ्यास और वैराग्य ❀

"अभ्यासवैराग्याभ्यांतन्निरोधः,, पा० सा० सू० १२ अभ्यास और वैराग्य से उन वृत्तियों का निरोध होता है। चित्त को ठहराने का बार २ यत्न करना अभ्यास है। लोक परलोक की कामनाओं से रहित होना वैराग्य है।

❀ ईश्वरप्राणिधान ❀

ओ३म् का जप और परमात्मा के सच्चिदानन्दस्वरूप का चिन्तन करना ईश्वरप्राणिधान है। इस भक्ति विशेष से परमात्मा स्वयं प्रेरित होकर साधक के चित्त को ! स्थिर कर देते हैं।

ईश्वरप्राणीधान से योग के विघ्न भी दूर हो जाते हैं।

किसी भले काम में पहले प्रकृति के रोकनेवाले और फिर सिद्धि के रोकने वाले कई विघ्न खड़े हो जाते "**श्रेयांसिबहुविघ्नानि**" सो योग में नौ विघ्न है। "**व्याधि-स्त्यान-संशय-प्रमादाऽऽलस्या-ऽविरति-भ्रा-**

न्तिदर्शनाऽलब्धभूमिकत्वाऽनवस्थितत्वानि चित्त विक्षेपास्तेऽन्तरायाः"।

(पा० १ । ३०)=व्याधि=रोग। स्त्यान=अयोग्यता। संशय=मैं योग कर सकूंगा वा नहीं, और करने पर भी सफलता होगी वा नहीं; यह संशय बने रहना। प्रमाद=वेपरवाही से योग वा उसके अंगों का न करना। आलस्य=आलस्य बनारहना। अविरति=विषयों में तृष्णा बनी रहनी। भ्रान्ति दर्शन=मिथ्या ज्ञान होना। अलब्धभूमिकत्व=समाधि की भूमिका (अवस्था) का न पाना। अनवस्थितत्व=समाधि की भूमिको पाकर भी चित्त का उसमें न ठहरना। यह चित्त के विक्षेप वा योग के विघ्न हैं। ईश्वरप्रणिधान से यह सब दूर हो जाते हैं।

चित्त को निर्मल बनाने का उपाय।

जबतक चित्त में ईर्ष्या असूया आदि बने रहते हैं, तबतक वह टिकता नहीं। चित्त से इन मलों के धोने का उपाय यह है कि " मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणांसुखदुःखपुण्यपुण्य-विषयाणांभावनातश्चित्तप्रसादनम् (पा० १। ३३) =सुखियों में मैत्रीकी भावना से, दुःखियों में दया की भावना से, पुण्यात्माओं में प्रसन्नता की भावना से और पापियों में उदासीनता की भावना से चित्त निर्मल होता है।

* क्रियायोग *

जिसका चित्त शुद्ध है, उसके लिये अभ्यास और वैराग्य उपाय हैं। पर जिसे अभी चित्तको शुद्ध करना है, उसके लिये साधनों के अनुष्ठान की आवश्यकता है, उनमें से पहले चित्त

की शुद्धि का एक बड़ा उपयोगी और आसान उपाय क्रिया योग है। "**तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानिक्रिया-योगः**" =तप स्वाध्याय और ईश्वरप्रणीधान क्रिया योग है। अर्थात् सहनशील होना (शीत, उष्ण, सुख दुःख आदि जो द्वन्द्व हैं उनका सहारना) और हित, परिमित और शुद्ध अन्न (नेक कमाई से कमाया हुआ और सात्विक भावों को उत्पन्न करनेवाला) का खाना इत्यादि तप है। धर्म और अध्यात्म विद्या के सिखलानेवाले शास्त्रों का अभ्यास, और ओंकार तथा गायत्री आदि का जपस्वाध्याय है। सारे कर्मों को ईश्वर के समर्पण करना और उनके फल का त्याग 'ईश्वरप्रणीधान' है।

❀ क्रियायोग का फल ❀

यह क्रिया योग " समाधिभावनार्थः क्लेशतनू करणार्थश्च " =समाधि की उत्पत्ति के लिये और क्लेशों को सूक्ष्म करने के लिये है।

❀ पांचक्लेश ❀

क्रियायोग जिन क्लेशों को सूक्ष्म करता है. वह यह है "अविद्यास्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाःपञ्चक्लेशाः" = अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश यह पांच क्लेश हैं। इनमें से अविद्या ही मुख्य क्लेश है, अस्मिता आदि अविद्या सेही उत्पन्न होते हैं।

❀ अविद्या का स्वरूप ❀

"**अनित्याशुचिदुःखानात्मसुनित्यशुचि सुखात्मख्यातिरविद्या**" अनित्य, अपवित्र, दुःख और अनात्म में; नित्य, पवित्र, सुख और आत्माका ज्ञान अविद्या है।

अर्थात् अनित्य स्वर्गादि को नित्य समझना, मन के अन्दर अपवित्र भावों के होते हुए भी अपने आपको पवित्र समझना, जिन का परिणाम दुःख है, उन विषयों को सुख समझना, शरीर, इन्द्रिय और चित्त जो कि अनात्मवस्तु हैं, उनको आत्मा समझना अविद्या है ।

❁ अस्मिता का स्वरूप ❁

"दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता" दृक्शक्ति (आत्मा) और दर्शनशक्ति (बुद्धि) इनदोनों को एक स्वरूपसा होना, इनमें भेद प्रतीत न होना अस्मिता क्लेश है, अर्थात् पहले अविद्या से जब बुद्धि को आत्मा (अपना आप) समझ लेता है, तो फिर बुद्धि की सारी अवस्थाओं को अपने में आरोप कर लेता है अर्थात् बुद्धि के शान्त होने से अपने आपको शान्त, घोर होने से घोर, और मूढ़ होने से मूढ़ समझता है, यही अस्मिता है ।

❁ राग का स्वरूप ❁

"सुखानुशयीरागः" सुख के साथ लेटनेवाला राग है । अर्थात् संसार के स्वार्थ सम्बन्धी पदार्थों को सुखदायक समझ उनसे प्यार करना राग है । जिस वस्तु से सुख उठाया है, उस सुख के साथ ही उसमें राग हो जाता है, जिससे फिर उसकी तृष्णा बनी रहता है ।

द्वेष का स्वरूप ।

"दुःखानुशयीद्वेषः" दुःख के साथ लेटनेवाला द्वेष है । अर्थात् दुःख अनुभवके अनन्तर उत्पन्न हुई क्रोध रूप चित्त वृत्ति का नाम (द्वेष) है । जब किसी से दुःख मिलता है, तो उस के साथ ही उसमें द्वेष उत्पन्न हो जाता है ।

अभिनिवेश का स्वरूप ।

"स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः" (मरनेका-भय) जो स्वभावतः (हरएक प्राणी में) बह रहा है और विद्वान् के लिये भी वैसा ही प्रसिद्ध है (जैसा एक महा मूढ़ के लिये है) वह अभिनिवेश है । वह चूहा जिसने कभी बिल्ली का चूहा मारते नहीं देखा, वह भी बिल्ली को देखकर भाग जाता है, इससे प्रतीत होता है, कि मरने का भय देख कर नहीं बैठता किन्तु स्वभावतः प्राणीमात्र में बह रहा है, चाहे मूर्ख हो वा विद्वान् कोई भी अपनी हस्ती को मिटना नहीं चाहता, हरएक को अपनी हस्ती में बडा लगाव है, यही लगाव अभिनिवेश है ।

योगाङ्ग और उनके अनुष्ठान का फल ।

"यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि"। (पा०२।२९) यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और सामधि यह आठ अङ्ग हैं । योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षयेज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः। पा० २।२८ इन योग के अङ्गों के अनुष्ठान से मलका नाश होकर ज्ञान का प्रकाश विवेक ख्याति (प्रकृति पुरुष को अलग२ करके जानने) पर्यन्त बढ़ता जाता है ।

पांचयम ।

इन आठ अङ्गों में से "अहिंसासत्याऽस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहायमाः" अहिंसा, (वैर और द्रोह से रहित होना) सत्य, अस्तेय, (चोरी का त्याग) ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (ममता-का त्याग) यह पांच यम हैं ।

पांच नियम ।

"शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानिनियमाः" पा० २।३२ ॥ शौच (बाहर अन्दर की शुद्धि) सन्तोष, तप,

(द्वन्द्वसहन) स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान (सारे कर्मों को ईश्वरार्पण करना) यह पांच नियम हैं।

❋ यम नियमों के अनुष्ठान का फल ❋

जो अहिंसा में दृढ़ है, उसके सामने वैरी भी वैर छोड़ देते हैं, जो सत्य में स्थित है, उसका कहा हुआ पूरा होता है, जो अस्तेय में स्थित है; उसको सारे रत्न मिलते हैं, जो ब्रह्मचर्य में स्थित है, उस को वीर्य का लाभ होता है, जो अपरिग्रह में स्थित है, उसको अपने जन्म का तत्व ज्ञान हो जाता है। शौच से अन्तःकरण की शुद्धि, मन की स्वच्छता, एकाग्रता, इन्द्रियों की जीत और आत्मदर्शन की योग्यता होती है। सन्तोष से उत्तम सुख मिलता है, तप से अशुद्धि के क्षय होने से शरीर स्वस्थ, निरोग, लघु और दक्ष (फुर्तिला) होता है, और इन्द्रियों में दूर देखने आदि की शक्ति हो जाती है। स्वाध्याय से इष्ट देवता का साक्षात् होता है, और ईश्वरप्रणिधान से समाधि की सिद्धि होती है।

❋ आसन और उसका फल ❋

बैठने के चाल का नाम आसन है, वह कई प्रकार का है पर जिस तरह देर तक आसानी से बैठा रह सके वही अधिक उपयोगी है। आसन के जीतने से भूख, प्यास, सर्दी आदि द्वन्द्व नहीं सताते।

द्र०—आसन, यम नियमों की नाईं स्वतन्त्र अङ्ग नहीं, किन्तु प्राणायाम करने का उपाय है, इसलिये प्राणायाम से पूर्व ही इसकी आवश्यकता है, सर्वदा नहीं।

❋ प्राणायाम और उसके भेद ❋

स्वांस की गति का रोकना, प्राणायाम है, उसके तीन भेद हैं, रेचक पूरक और कुम्भक। श्वांस को बाहर निकालना रेचक

है, अन्दर खींचना पूरक है। और रोकना कुंभक। कुंभक के दो भेद हैं सहित कुंभक और केवल कुंभक। रेचक और पूरक के साथ जो कुंभक किया जाता है (अर्थात् पहले वायु को बाहर निकालना वा अन्दर भरना और फिर रोकना) वह सहित कुंभक है। फिर जब अभ्यास वश से इतनी शक्ति बढ़ जाती है, कि रेचक और पूरक के बिना ही प्राण थम जाते हैं, तो केवल कुंभक होता है।

* प्राणायाम का फल *

प्राणायाम से मल धोए जाते हैं और ज्ञान चमकता है और मन धारणा से योग्य बन जाताहै।

प्रत्याहार और उसका फल।

प्राणायाम से जब मन बाहर की ओर से हट जाता है, तो उसके साथही इन्द्रियों का वाह्य विषयों से सम्बन्ध त्याग कर चित्त की नाई थम जाना प्रत्याहार है। प्रत्याहार से इन्द्रिय पूरे बस में हो जाते हैं।

धारणा, ध्यान और समाधि।

चित्त को किसी एक स्थान पर टिकाना धारणा है, टिकान के स्थान शरीर के अन्दर नाभि चक्र, हृदय कमल मूर्द्धा आदि हैं। और बाहर कोई भी विषय हो सकता है। अब जिस प्रदेश में चित्तको टिकाया है, उसी प्रदेश में उसकी वृत्ति का एकाग्र हो जाना, अर्थात् एकही प्रकार की वृत्ति का लगातार उदय होते चले जाना, उसके अन्दर और किसी प्रकार की वृत्ति का उदय न होना ध्यान है, अब जब वह ध्यान ऐसा जम जाता है, कि उसमें केवल ध्येय मात्र ही भासता है, ध्यान का अपना स्वरूप भी गुमसा हो जाता है, तो उसे समाधि कहते हैं।

⊛ योग के अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग अङ्ग ⊛

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, और प्रत्याहार यह पांच योग के बहिरङ्ग अङ्ग हैं। धारणा, ध्यान और समाधि यह तीनों अन्तरङ्ग हैं।

⊛ संयम ⊛

धारण, ध्यान और समाधि जब तीनों एक विषय में होते हैं, अर्थात् जिस विषय में धारणा हुई हो, उसी में ध्यान और उसी में चित्त की समाधि हो, तो योगशास्त्र में उसे संयम कहते हैं।

⊛ संयम का फल ⊛

भिन्न २ विषयों में संयम का फल भिन्न २ सिद्धियां हैं। जो योगशास्त्र के विभूतिपाद में कही हैं।

⊛ समाधि के भेद ⊛

समाधि के दो भेद हैं, सबीज और निर्बीज।

⊛ सबीज समाधि और उसके चार भेद ⊛

चित्त का और सब ओर से हट कर एक ही लक्ष्य में टिक जाना, तन्मय हो जाना, उसी में लीन हो जाना, समापत्ति कहलाती है। इसके दो भेद हैं। **वितर्कसमापत्ति** और **विचारसमापत्ति**। जब लक्ष्य स्थूल हो तो वितर्क समापत्ति होती है, उसके दो भेद हैं, सवितर्का और निर्वितर्का। हमें वस्तुओं के नाम का इतना अभ्यास हो गया है कि जब हम किसी वस्तु को देखते हैं तो उसका नाम भी साथ ही भासता है। इसीप्रकार समाधि में भी लक्ष्य वस्तु के साथ उसका नाम और ज्ञान भी भासते हैं। सो जबतक यह भी

साथ २ भासने रहते हैं, तबतक सवितर्कासमापत्ति है, पर जब चित्त उस लक्ष्य में ऐसा मग्न हो जाता है, कि वह लक्ष्य ही उसके सामने रह जाता है, उस वस्तु का नाम भी भूल जाता है और ज्ञान भी अलग नहीं भासता है, तो वह निर्वितर्कासमापत्ति है। इस समापत्ति में जैसा वस्तु का साक्षात् होता है, ऐसा स्पष्ट साक्षात् और किसी तरह नहीं होता। जिसप्रकार स्थूल में सवितर्का और निर्वितर्कासमापत्ति है। इसीप्रकार सूक्ष्म में **सविचारा** और **निर्विचारा** समापत्ति होती है। जबतक सूक्ष्म विषय अपने देश, काल और निमित्त के साथ तथा नाम और ज्ञान के साथ प्रतीत होता है, तबतक सविचारा समापत्ति होती है, फिर जब अर्थ का साक्षात् करते २ देश, काल, निमित्त और शब्द सब भूल जाते हैं, केवल अर्थ मात्र ही प्रतीत होता है, तब वह निर्विचारा है। यह सूक्ष्म विषय पञ्चतन्मात्राओं से लेकर प्रकृतिपर्यन्त है। स्थूल भूत और भौतिक वस्तुओं का साक्षात् वितर्कसमापत्ति से होता है, और पञ्चतन्मात्र से लेकर प्रकृतिपर्यन्त का साक्षात् विचारसमापत्ति से होता है। इन चारों को सबीज समाधि वा संप्रज्ञात योग कहते हैं।

निर्विचार समापत्ति का महत्व।

निर्विचार समाधि ज्यों २ बढ़ती है, त्यों २ उसकी प्रज्ञा निर्मल होती है, प्रज्ञा के निर्मल होने पर सारे पदार्थ उसको शीशे की तरह एक दम साफ दिखलाई देते हैं, इस अवस्था में :—

प्राज्ञप्रसादमारुह्याशोच्यः शोचतोजनान्।
भूमिष्ठानिवशैलस्थःसर्वान्प्राज्ञोऽनुपश्यति। प्रज्ञा की निर्मल चोटी पर चढ़ कर शोककी पहुंच से ऊंचा बैठा

हुआ वह प्राज्ञ पुरुष शोक में डूबे हुए सारे लोगों को इस तरह देखता है, जैसे कोई पर्वत पर बैठा हुआ भूमि पर स्थित लोगों को देखे। इस अवस्था में जो प्रज्ञा होती है उसका नाम ऋतम्भरा प्रज्ञा है क्योंकि वह सचाई को धारण करती है, इसमें धोके का कभी नाम नहीं होगा। इसी को अध्यात्मप्रसाद, स्फुटप्रज्ञालोक वा प्रज्ञाप्रसाद कहते हैं। अनुमान से वा शास्त्र से भी हम प्रकृति पर्यन्त को जानते हैं, पर समाधि में उनका साक्षात् प्रत्यक्ष होता है।

इस के संस्कारों का फल।

समाधि से पहले चित्त पर बाहर के संस्कार हैं, इसलिये समधि में पहुंच कर भी चित्त उन संस्कारों के वश से जल्दी बाहर की ओर भागता है। अब जब यह निर्विचार समाधि हो जाती है, तो उसमे जो प्रज्ञा उत्पन्न होती है, उसके संस्कार उन बाहर—के संस्कारों से बलवान होते हैं, क्योंकि इसमें वस्तु का तत्व अनुभव होता है, जो बाहर कीप्रज्ञामें नहीं होता। सो यह प्रबल संस्कार फिर समाधि में ही लगाते हैं, और उससे फिर वैसेही संस्कार उत्पन्न होते हैं वह फिर समाधि में लगाते हैं, इसप्रकार समाधि के संस्कार बाहर के संस्कारों को ऐसा दबालेते हैं कि एक पहुंचा हुआ योगी उठता बैठता घूमता फिरता सदा उसी में मग्न रहता है।

निर्बीजसमाधि।

निर्विचार समाधि से जब आत्मा सारे सूक्ष्म दृश्यों को देख लेता है, और यह देख लेता है, कि मैं यह दृश्य नहीं हूं, किन्तु इनसे परे इन का द्रष्टा हूं। तब उसको इन दृश्यों से परे पहुंचने की इच्छा उत्पन्न होती है। उसको इस प्रबल इच्छा से चित्त पर का दृश्य मिट जाता है, तब आत्मा उस दृश्य से हट

कर अपने स्वरूप में आजाता है। यही निरुद्धावस्था है। इसी को निर्बीज समाधि वा असम्प्रज्ञातयोग कहते हैं।

मुक्ति वा कैवल्य।

अब इस समाधि की प्राप्ति में योग का उद्देश्य पूरा प्राप्त हो जाता है, क्योंकि इस अवस्था में आत्मा अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है, पहले प्रकृति के बन्धनों में था, अब उन से छूट गया है, यही मुक्ति है। पहले वह प्रकृति के साथ एक हो रहाथा, अब उससे अलग होकर केवल स्वरूप हुआ है, इसी को कैवल्य करते हैं।

❀ पाचवां-मिमांसादर्शन ❀

वेदार्थ विषयक विचार को मीमांसा कहते हैं, मीमांसा के दो भेद हैं — **पूर्वमीमांसा** और **उत्तरमीमांसा**। पूर्व मीमांसा में कर्मकाण्ड का विचार है और उत्तर मीमांसा में उपासना और ज्ञानकाण्ड का। पूर्वमीमांसा का प्रसिद्ध नाम मीमांसादर्शन है, और उत्तरमीमांसा का वेदान्तदर्शन। मीमांसा दर्शन का प्रवर्त्तक जमिनि मुनि हैं, उन्हीं का नाम पर इसको जैमिनीयदर्शन कहते हैं, और वेदार्थ का विचार होने से मीमांसादर्शन।

"स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" (शत० ११।५।७) स्वाध्याय पढ़ना चाहिये। यह विधि वेदाध्ययन की आज्ञा देती है, विधि का उलाङ्घना अधर्म है। इसलिये द्विज मात्र को वेद का पढ़ना आवश्यक है, अन्यथा वह पतित होता है।

धर्मकी जिज्ञासा वेदाध्ययन से ही पूर्ण होती है।

मनुष्यके अन्दर जो धर्म की जिज्ञासा है, वह वेद के अध्य-

यन से ही पूरी हो सकती है, अन्यथा नहीं, क्योंकि धर्म के विषय में केवल वेदही एक प्रमाण है।

धर्म्म क्या है ?

यज्ञादि कर्म, और सब के साथ द्रोह रहित होना आदि चरित्र का अधिकार मनुष्यमात्र को है, वेदोक्त हरएक चरित (व्यवहार) हरएक मनुष्य के लिए अनुष्ठेय है, पर कर्म का अधिकार योग्यता के अनुसार (होता है) छन्दोग्य-उप० में कहा है, कि:—

"**तद्यइहरमणीयचरणाअभ्याशोहयत्तेरमणीयांयोनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिंवाक्षत्रिययोनिंवा वैश्ययोनिंवा** । अथयइहकपूयचरणअभ्याशोहयत्ते कपूयां योनिमापद्येरन्श्वयोनिंवाशूकरयोनिंवाचण्डालयोनिंवा (छा० ५।१०।७) जिनका यहां चरित्र शुद्धरहा है, वह जल्दी उत्तम योनि को प्राप्त होंगे—चाहे ब्राह्मण की योनि को, वा क्षत्रिय की योनिको, वा वैश्य की योनि को, और वह जिनका चरित यहां नीच रहा है, वह जल्दी ही नीच योनि को प्राप्त होंगे—चाहे कुत्ते की योनि को सूअर को योनिको वा चाण्डाल की योनि को। यहां जो चरित को जन्मान्तर में शुभाशुभ योनि की साधनता बतलाई है, यह भी प्रत्यक्ष और अनुमान की पहुंच से परे केवल वेदैकगम्य है।

* धर्म्म में प्रमाण *

स्मृति, सदाचार ओर आत्मतुष्टि भी धर्म में प्रमाण हैं। पर यह वेद की न्याईं स्वतंत्र प्रमाण नहीं और सर्वथा प्रमाण नहीं। इन तीनों में आत्मतुष्टि से बढ़कर सदाचार, सदाचार से बढ़कर स्मृति और स्मृति से बढ़कर श्रुति प्रमाण हैं।

* मंत्र और ब्राह्मण *

कर्म में मूल प्रमाण मन्त्र है, अतएव कहा है—"**मंत्रश्रुत्यं चरामसि**" (ऋ० १० । १३४ । ७) = जैसा मंत्रों में कहा है, वैसा चलते हैं। मंत्रने जिस कर्म को प्रकाशित किया है, ब्राह्मण उसकी इति कर्त्तव्यता और फल का वर्णन करता है। सो इस दर्शन में मंत्र और ब्राह्मण दोनों के वाक्यों का विचार है। यज्ञ के विषय में मंत्र और ब्राह्मण का इतना सम्बन्ध है कि दोनों एक दूसरे से अलग नही हो सकते। मंत्रों के साथही साथ यज्ञ की प्रक्रिया भी परस्पर से चली आई है, उस परम्परा श्रुतप्रक्रिया काही ब्राह्मणों में वर्णन है, अतएव उसको श्रुति कहा जाता है। सो यह परम्परा श्रुत इति कर्त्तव्यता प्रायः ब्राह्मण में है, अतएव कर्मकाण्ड में मंत्र और ब्राह्मण दोनों विचार का विषय है। पर ब्राह्मण में मंत्र प्रबल प्रमाण है कर्म-काण्ड जबतक जीवित रहता है, तबतक युक्ति और प्रमाण से उसमें परिवर्त्तन होता रहा है।

कर्म की तीन आवश्यकताएं।

कर्म को तीन बातों की आवश्यकता है—साध्य, साधन और इतिकर्त्तव्यता की। "**दर्शपूर्णमासाभ्यांस्वर्ग कामोयजेत**" इत्यादि वाक्य से स्वर्ग उद्देश्य करके पुरुष के प्रति यज्ञ का विधान किया है। यहां स्वर्ग साध्य है। यज्ञ साधन है, और प्रयाज आदि अंग उसकी इतिकर्त्तव्यता को पूरा करते हैं।

कर्म के लिये विचारणीय स्थल।

कर्म के लिये विचारणीय स्थल पाँच है, विधि, मंत्र, नाम-धेय, निषेध और अर्थवाद।

(१) अज्ञात अर्थका ज्ञापक भाग विधि है। विधि का प्रयोजन यह है, कि वह किसी ऐसे अर्थ का विधान करे जो किसी प्रमाणान्तर से प्राप्त नहीं हो सकता जैसा कि "**अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः**"='स्वर्गकी कामनावाला पुरुष अग्निहोत्र होमे' यह विधि स्वर्ग प्रयोजनवाले होमका विधान करती है, जो प्रमाणान्तर (प्रत्यक्ष, अनुमान आदि) से अप्राप्त है। विधि चार प्रकार की है—उत्पत्ति विधि, विनियोग विधि, अधिकार विधि, और प्रयोग विधि। कर्म के स्वरूप मात्र की बोधक जो विधि है, वह उत्पति विधि है, जैसे अग्निहोत्रं जुहोति=अग्निहोत्र होमे। अंग और प्रधान के सम्बन्ध की बोधक विधि विनियोग विधि है, जैसे "**दध्ना जुहोति**" दही होम का अंग है, सो यह विधि दही का होम के साथ सम्बन्ध बतलाती है—दही रूप द्रव्य के द्वारा होम का सम्पादन करे। विनियोग विधि के सहकारी (साथी) छः प्रमाण हैं—श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या। इनकी सहायतासे विधि अंगता अर्थात् परार्थ होना सिद्ध करती है, जैसे, दही का होमार्थ होना परार्थ के शेष और प्रधान को शेषी कहते हैं। और इनके सम्बन्ध का नाम शेषशेषीभाव वा अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध है।

विनियोग के सहकारियों में जो श्रुति कही है, वह किसी ऐसे शब्दका नाम है, जो विनियोग में प्रमाणान्तर की अपेक्षा न करे। श्रुति तीन प्रकार की है, **विधात्री, अभिधात्री** और **विनियोक्ती**।

विधात्री—विधान करनेवाली। अभिधात्री—अभिधान (नाम) के कहनेवाली। विनियोक्ती=विनियोग करनेवाली।

लिङ्ग—सारे शब्दों का जो सामर्थ्य है उसको लिङ्ग कहते हैं। जैसे कुशा जो पुरोडाश का आसन है उसको काटता हूं ' यह शब्दों के सामर्थ्य से यह मंत्र कुशा के काटने का अंग प्रतीत होता है।

'वाक्य'—साथ उच्चारण होना वाक्य है।

'प्रकरण'—परस्पर दोनों को एक दूसरे की आकांक्षा होनी प्रकरण है।

'स्थान'—जगह=क्रम। समान स्थान पर होना क्रम है, वह दो प्रकार का है—पाठकृत और अर्थकृत।

'समाख्या'—यौगिक शब्द समाख्या है। जैसे यज्ञ में प्रयौजनीययाज्यापुरोनुवाक्यापाठादि धर्म ऋग्वेद में कहे हैं, दोहननिर्वापादि धर्म यजुर्वेद में, और आज्यस्त्रोत्र पृष्ठस्तोत्रादि सामवेद में कहे हैं। सो इन में से कौन ऋत्विज् किसका अनुष्ठान करे, यह नियम हौत्र (होतृसम्बन्धि) आध्वर्यव (अध्वर्युसम्बन्धि) और औद्गात्र (उद्गातृसम्बन्धि) इन समाख्याओं से होता है।

❀ श्रुत्यादि में पूर्व पूर्व प्रबल होता है ❀

श्रुति-लिंग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानांसमवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात् ३।३। १४=श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या के मेल में परला दुर्बल होता है, इसलिये कि उसका विषय दूर जा पड़ता है। सो इस नियम से श्रुतिलिङ्गादियां प्रबल होता है।

अधिकारविधि।

इस कर्म का कौन अधिकारी है, यह जिसमें बतलाया हो, वह अधिकारविधि है।

मंत्र।

प्रयोग के साथ सम्बन्ध रखनेवाले जो अर्थ [द्रव्य, देवता और इतिकर्त्तव्यतादि] हैं उनके स्मारक मंत्र होते हैं। यद्यपि उन अर्थों का स्मरण और प्रकार से भी हो सकता है, पर मंत्रों से ही, उनका स्मरण करना चाहिये, इस प्रकार इस विषय में नियम विधि मानी गई है।

कर्म का उद्देश्य।

वैदिक कर्म फल कामना से किये हुए शुभ फलों के उत्पादक होते हैं, और अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा ज्ञान के उत्पादक होते हैं।

कर्म से आराध्य देवता।

कर्म से आराध्य देवता सर्वत्र शबल रूप में परमात्मा है, उसके स्वरूपादि का वर्णन उत्तर मीमांसा अर्थात् वेदान्त दर्शन में है।

❀ छठा-वेदान्त-दर्शन। ❀

इस दर्शन का प्रवर्त्तक भगवान वेद व्यास हैं, उनके नाम पर इसको वैयासिक दर्शन कहते हैं, और वेद का अन्तिम तात्पर्य बतलाने से वेदान्त-दर्शन कहते हैं। इस दर्शन का उद्देश्य वेदका परम तात्पर्य परमात्मा में बतलाने का है। अर्थात् साराही वेद कहीं शुद्ध स्वरूप से, कहीं शबल स्वरूप से, और कहीं उपलक्षण रूप से परमात्मा का वर्णन करता है। कर्म से भी वही आराध्य है, इसलिये साराही वेद साक्षात् वा परम्परा से परमात्मा की ओर ले जाता है। और उसी के दर्शन से स्थिर शान्ति और परम आनन्द मिलता है।

जिज्ञास्य विषय ।

जैसे पूर्व मीमांसा का जिज्ञास्य विषय धर्म है, वैसे उत्तर मीमांसा का जिज्ञास्य विषय ब्रह्म है, अतएव इसका आरम्भ इस प्रकार से है "अथातोब्रह्मजिज्ञासा" अब यहाँ से ब्रह्मकी जिज्ञासा है [वेदान्त १। १। १] "जन्माद्यस्ययतः" [१। १। २] इस [जगत्] का जन्मादि जिससे है, [वह ब्रह्म है] ।

ब्रह्म का लक्षण ।

ब्रह्म का लक्षण जैसा कि श्रुति बतलाती है "यतो वाइ-मानिभूतानिजायन्तेयेनजातानिजीवन्तियत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्वतद्ब्रह्म" [तै० ३।१] जिससे यह भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिससे जीते हैं, और मरते हुये जिसमें लीन होते हैं, उसकी जिज्ञासा कर, वह ब्रह्म है ।

ब्रह्म का शुद्ध स्वरूप ।

ब्रह्म का शुद्ध स्वरूप वह है, जो उसका "सर्वतत्त्वैर्विशुद्धम्" सारे तत्त्वों से निखरा हुआ [श्वे० २। १५] स्वरूप है। स्वरूपमात्र होने से उसे शुद्ध कहते हैं।

ब्रह्म का शबल स्वरूप ।

और शबल स्वरूप ब्रह्म का वह है, जो इन तत्त्वों के साथ मिलकर भासता है। जैसे अग्नि का शुद्ध स्वरूप लाट में है, और शबल स्वरूप अंगारे में है।

शबल स्वरूप में वह जगत् का जीवन है ।

यह सृष्टि तो यहाँ है, और वह इस सृष्टि से अलग किसी दूसरी जगह बैठा हुआ हो, ऐसा नहीं है, अथवा इस सृष्टि के अन्दरही किसी एक जगह पर बैठा हुआ हो, ऐसा भी नहीं है, किन्तु इस सारी सृष्टि में रमा हुआ है, और इस सारी सृष्टि का

जीवन बन कर इसमें बैठा हुआ है। छान्दोग्य [१।७] में हिरण्मय पुरुष शबल स्वरूप कहा है, येनसूर्यस्तपतितेजसेद्धः" जिस तेज से दीप्त होकर सूर्य तप रहा है। सो इसप्रकार बाह्य-सृष्टि में उसके जीवन की तरह उसमें रचा हुआ स्वरूप शबल स्वरूप है। कर्मकाण्ड में जो यज्ञिय देवता कहे हैं, वह सब ब्रह्म के शबल स्वरूप हैं।

उपलक्षण से ब्रह्म का वर्णन।

जहाँ बाह्य पदार्थ के द्वारा उसके अन्तरात्मा पर दृष्टि ले जाना अभिप्रेत होता है, वहाँ वह बाह्यपदार्थ उसके अन्दर स्थित परमात्मा के जानने का उपलक्षण होता है।

माया और जीव सब उसके अधीन है।

जगत् का उपादान कारण माया व प्रकृति है, जिससे कि वह इस जगत् को रचता है; वह ब्रह्म के अधीन एक शक्ति है; और चेतन जीव भी सब ब्रह्म के अधीन हैं वह इन सब का अधिपति है, जैसा कि कहा है।

"क्षरंप्रधानममृताक्षरंहरःक्षरात्मानावीशतेदेवएकः। तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्वभावाद्भूयश्चान्तेविश्वमायानिवृत्तिः॥

प्रकृति परिणामिनी [बदलनेवाली] है, पुरुष अपरिणामी है, उसके ध्यान से उसमें जुड़ जाने से, हां उस में तन्मय हो जाने से, फिर अन्त में सारी माया हट जाती है [श्वे० १।१०] "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः" प्रकृति और पुरुष का मालिक है और गुणों पर राज्य करता है [श्वे० ६। १६]।

माया।

माया इस जगत् का उपादान कारण है इसी को प्रकृति या प्रधान कहते हैं, वेदान्त के प्रथम अध्याय के चतुर्थ पाद में इसका विचार है।

जीव।

इस देह में चेतन शक्ति जीव है, वह इस देह से अलग है। जीव नित्य है, न वह जन्मता है, नमरता है, जैसा कि कहा है **नात्माऽश्रुतेर्नित्यात्वाच्चताभ्यः** [२।३।१७] आत्मा (जन्मता मरता) नहीं प्रत्युत श्रुतियों से नित्य सिद्ध होता है **"जीवापेतंवावकिलेदंम्रियतेजीवोम्रियते"** जीव से छोड़ा हुआ यह (शरीर) मरता है, न कि जीव मरता है (छां० ६। ११।३) **"नजायतेम्रियतेवाविपाश्चित्"** जीवत्मा न जन्मता है, न मरता है (कठ० २। १८)।

जीव अणु है।

जीव अणु है, क्योंकि "उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्" (२। ३। १६) निकलना (इस शरीर से), जाना परलोक में) और आना (इसलोक में) अणु में बन सकते हैं, विभु में नहीं, और जो मध्यम परिमाणवाला है, वह नित्य नहीं हो सकता, इसलिये जीव अणु ही है।

जीव कर्त्ता है।

"कर्त्ताशास्त्रार्थवत्वात्" कर्त्ता है, शास्त्र के प्रयोजनवाला होनेसे (२। ३। ३३) श्रुति के अनुसार जीवात्मा कर्त्ता सिद्ध होता है, क्योंकि कर्त्ता होने पर "यजेत" यागकरे "जुहोति"

होम करे "दद्यात्" दान देवे, इत्यादि विधि शास्त्र और "न सुरां पिबेत" सुरा न पिये" इत्यादि निषेध शास्त्र प्रयोजनवाला बन सकता है, अन्यथा विधि निषेधशास्त्र निष्प्रयोजन हो, जब वह कर्त्ता ही नहीं, तो कर्त्तव्य का उपदेश उसके लिये क्यों हो। और श्रुति साक्षात् उसको कर्त्ता भी बतलाती है "एषहि द्रष्टाश्रोतामन्ताबोद्धाकर्त्ताविज्ञानात्मापुरुषः" यह विज्ञानात्मा पुरुष देखनेवाला, सुननेवाला, समझनेवाला, करनेवाला है (प्रश्न ४। ६)।

जीव के स्वरूप में कोई भेद नहीं।

जीव जैसा मनुष्य में है, वैसाही कीड़ी में है, उसके स्वरूप में कोई भेद नहीं, क्योंकि वही जीव अपनी खोटीखरी कमाई के अनुसार कीड़ी में और मनुष्य में जाता है, वह जीव को अपने कर्मानुसार मिले हुए शरीर और इन्द्रियों के भेद से भेद होता है, अन्यथा कोई भेद नहीं।

जीव की कमाई।

नीचली योनियों में जीव अपने कर्मों का फल ही भोगता है, वहां उसकी कोई नई कमाई नहीं होती, पर मनुष्ययोनि में आकर वह जो कुछ करता है, उसका ज़िम्मेवार होता है, क्योंकि यह उसकी कर्मयोनि है, यहां आकर जो कुछ वह भले बुरे कर्म करता है, जो आराधन करता है, और जो ज्ञान उपार्जन करता है, वह सब उसकी कमाई होती है, और उसी के अनुसार उसको अगला जन्म मिलता है।

मरने के पीछे जीव की स्थावर वा तिर्यग्गति।

तृणघास औषधि वनस्पति यह सब स्थावर योनियां हैं,

और अतीव सूक्ष्म कृमियों से लेकर जितने कीट पतंग पशु पक्षी हैं, वह सब तिर्यग् योनियां हैं इन सब में जीव का वास है। यह कौन जीव हैं ? यही जो मनुष्य योनियों में वास करते हैं, उन के लिये कोई अलग जीव नहीं, जो मनुष्य से भिन्न प्रकार के हों, एक वह पुरुष हैं, जिनकी रुचि सदा पाप में रहती है, चाहे अपनी सिद्धी कुछ भी न हो पर दूसरे की काम सिद्ध नहीं होने देंगे, यही उनकी रुचि है। मानो जगत् में परोपकार उनके लिये बना ही नहीं, हां अपकार में सद तत्पर रहेंगे, एक तो इस प्रकार के महानीच होते हैं, और दूसरे वह होते हैं, जो सदा स्वार्थ में तत्पतर रहते हैं, निदान इसप्रकार के लोग जिनके नीच कर्म तौल में बढ़े हुए हैं, वह अपना फल भोगने के लिए स्थावर और तिर्यग्योनियों में पड़ते हैं।

मनुष्य गति।

पर जिनके कर्म मिले जुले होते हैं, वह सीधे मनुष्य योनि में आते हैं, जैसा कि कहा है, **"उभाभ्यामेवमनुष्यलोकम्"** दोनों (मिले हुए पुण्य पाप) से ही मनुष्य लोक को (प्रश्न ०३। ७)।

देवयाण और पितृयाण।

जो इस लोक में यथाविधि वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान करते रहे हैं, वह मर कर चन्द्रलोक को जाते हैं, चन्द्रलोकही स्वर्ग लोक है (मुण्ड १। २। २०) जहाँ वह अपने सुकृत कर्मों को भोग कर फिर मनुष्य लोक में वापिस आकर नया जन्म धारते हैं। चन्द्रलोक जाने का मार्ग पितृयाण मार्ग कहलाता है। दूसरे वह पुण्यात्मा जन हैं, जो उपासना द्वारा शबल ब्रह्म को साक्षात् कर चुके हैं, वह मर कर ब्रह्मलोक को जाते हैं।

जहाँ से वह फिर इस कल्प में वापिस नहीं आते हैं। देवयान और पितृयाण सविस्तर वर्णन छान्दोग्य ५। २ और बृहदा० ६। २ और कौषीतकि १। २ में है। और वेतान्त दर्शन के तीसरे अध्याय के प्रथमपाद सारे में पितृयाण सम्बन्धी अनेक विध विचार दिखाए हैं। और चौथे अध्याय के दूसरे, तीसरे पाद में देवयाने का सविस्तर वर्णन हैं।

देवयाण मार्ग से जानेवाले पुण्यात्माओं को ब्रह्मलोक में पहुंचकर परब्रह्म के दर्शन होते हैं।

"यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत, स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते। (प्रश्न० ५। ५)॥

फिर जो पुरुष (त्रिमात्रेण) ज्ञान, उपासनावाले (ओ३म्, इति) ओ३म् (एतेन) इस (एव) ही (अक्षरेण) अक्षर से (एवं, परं, पुरुषं) इस परब्रह्म परमात्मा का (अभिध्यायीत) ध्यान करता है (सः) वह (तेजसि सूर्ये) तेजमय प्रकाशस्वरूप परमात्मा के (सम्पन्नः) प्राप्त होता है (यथा) जैसे (पादोदर) सर्प (त्वचा) अपनी केंचुली को छोड़ कर (विनिर्मुच्यते) पृथक् हो जाता है (एव) इसी प्रकार (हवै) निश्चय कर के (सः) वह त्रिमात्रिक "ओ३म्" का ध्यान करनेवाला (पाप्मना) पापरूप संसार के बन्धनों से (विनिर्मुक्तः) छूट जाता है (सः) वह (सामभिः) सामवेद के मननसे (ब्रह्मलोकं)

ब्रह्म लोक को (उन्नीयते) प्राप्त होता है और (सः) वह ब्रह्मलोक को प्राप्त हुआ (एतस्मात्) इस (जीवघनात्) जीव वाले (पुरुषं) परमात्मा को (ईक्षते) देखता है। "कार्यात्यये तदध्यक्षेणसहातःपरमभिधानात्" (४।३।१०) ब्रह्मलोक में पहुंच कर वह कार्य को उलांघन कर उसकार्य से परे जो उसका अध्यक्ष परब्रह्म है, उसके साथ ऐश्वर्य को भोगता है क्योंकि श्रुति में ऐसा कहा है।

मरने से पूर्व परब्रह्म के दर्शन।

शबल स्वरूप की उपासना और दर्शन चित्त से होता है, पर शुद्धस्वरूप चित्त की पहुंच से परे है, जैसा कि कहा है" "यतोवाचा निवर्तन्तेअप्राप्यमनसासह, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वाननबिभेति कुतश्चन" जहाँ से वाणियें मन के साथ बिन पहुंचे लौटती हैं ब्रह्म के उस आनन्द को अनुभव करता हुआ सर्वतो अभय हो जाता है। (तै०) सोचित्त की पहुंच शुद्ध स्वरूप से पर ही है, शुद्ध के दर्शन शुद्धआत्मा (अर्थात् चित्त से निखरे हुये आत्मा) से होते हैं, पहले योग द्वारा आत्मा का साक्षाद् दर्शन होना और फिर आत्मा स्वयं परमात्मा के दर्शन करता है, जैसा कि कहा है "**यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयंभ्राजतेतत्सुधान्तम् । तद्वाऽऽत्मतत्त्वंप्रसमीक्ष्यदेहीएक कृतार्थोभवतेवीतशोकः ॥ १४॥ यदात्म तत्त्वेनतुब्रह्मतत्त्वंदीपोपमेनहयुक्तःप्रपश्येत् । अजंध्रुवंसर्व तत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वादेवं मुच्यते सर्वपाशैः**" (श्वेता०) = जैसे कोई मट्टी से लिथरा हुआ रत्न, जब ठीक धो दिया गया है, वह तेजोमय होकर चम-

कता है, इसप्रकार (शुद्ध होकर चमकते हुए) आत्मतत्त्व को देखकर मनुष्य लोक से परे हुआ कृतार्थ हो जाता है । १४। फिर जब युक्त होकर आत्मतत्त्व के दीपक से ब्रह्मतत्त्व को देखता है, जो ब्रह्मतत्त्व, अजन्मा, अटल और सारे तत्त्वों से शुद्ध है, तब वह इस देव को जानता हुआ सारी फाँसों से छूट जाता है (श्वेता० १५।२) सारांश यह है कि यदि ध्यान द्वारा शबल को साक्षात् करने के पीछे ध्यान को भी बन्द करके शुद्ध आत्मा पर पहुंच गए हैं तो उस शुद्ध आत्मतत्त्व से यही ब्रह्मतत्त्व का साक्षात् हो जाता है , और यदि शबल के साक्षात् में ही मग्न रहे. तो शुद्ध के दर्शन ब्रह्मलोक में जाकर होते हैं ।

मुक्त जीव का ऐश्वर्य ।

मुक्त जीव सत्यकाम और सत्यसंकल्प हो जाता है, इसलिये " **संकल्पादेवतुतच्छ्रुतेः** " उस के संकल्प से ही सब कुछ हो जाता है, जैसाकि श्रुति कहती है "**यं यमन्तमभिकामोभवति यं कामंकामयते, सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति, तेन सम्पन्नोमहीयते**" जिस अर्थ को वह प्यार करता है, जिसको चाहता है, वह इसके संकल्प से ही प्रकट होता है, और वह उससे संपन्न होकर आनन्द भोगता है (छा० ८। २। १०) । अपनी कामना में संकल्प से भिन्न उसको किसी के अधीन नहीं होना पड़ता "**अतएवचानन्याधिपतिः**" इसलिये ही अपना आप ही वह अधिपति होता है "**सस्वराड्भवतितस्यसर्वेषुलोकेषुकामचारोभवति**" वह स्वराट् (स्वतन्त्र अधिपति) बन जाता है, उसका सब लोकों में यथेच्छाचार होता है (छा० ७। २५। २) । जगत् के

रचने आदि को छोड़ कर उसका ऐश्वर्य होता है। जगत् का रचना आदि जो ईश्वर के व्यापार हैं, उनमें मुक्त जीव ईश्वर नहीं होता, जैसा कि जगत्व्यापाराधिकरण में निर्णय किया है **"जगद्व्यापारवर्जप्रकरणादसन्निहितत्वाच्च"** (४।४।१७) जगत् के व्यापार को छोड़ कर, प्रकरण से और असन्निहित होने से अर्थात् जगत् को रचने और मर्यादा में रखने आदि के व्यापार को छोड़ कर मुक्तों का ऐश्वर्य होता है, क्योंकि जहां कहीं जगत् की रचना आदि कही है, वहां ईश्वर का ही प्रकारण है, और मुक्त पुरुषों की वहां कोई सन्निधि नहीं। यह सत्य है कि वह सत्य संकल्प है, वह जो कुछ चाहता है, होता है, पर उसको ऐसी अनधिकार कामनाहीं नहीं होती। किञ्च **"भोगमात्रसाम्यलिंगाच्च"** (मुक्त जीव का ब्रह्म के साथ) भोगमात्र की समता का चिन्ह है, न कि रचने आदिका "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सहब्रह्मणा विपश्चिता" वह सर्वज्ञ ब्रह्म के साथ सारी कामनाओं को भोगता है (तै० २। १)।

*** इतिशास्त्रविज्ञानंसमाप्तम् ***



विषय	पृष्ठ